ISSN 0976-0830

Mānaviki

AN INTERDISCIPLINARY JOURNAL OF HUMANITIES & SOCIAL SCIENCES

Volume 5 • Number 1 & 2 • Varsh Pratipada & Vijaya Dashami, April & October 2014

Editors

Pradeep Kumar Rao & Om Jee Upadhyay

The Journal of
Maharana Pratap P.G. College
Jungle Dhusan, Gorakhpur (U.P.)

Mānaviki
An Interdisciplinary Journal of Humanities & Social Sciences

Editorial Advisory Board

U.P. Singh, Ex Vice-Chancellor, V.B.S. Purvanchal University, Jaunpur

R.P. Mishra, Ex Vice-Chancellor, Allahabad University, Allahabad

Pratap Singh, Ex Chairman, Higher Education Service Commission (HESC), Uttar Pradesh

Adya Prasad Mishra, Ex Vice-Chancellor, Maharshi Mahesh Yogi Vedic University, Jabalpur

Ram Achal Singh, Ex Vice-Chancellor, R.M.L. Awadh University, Faizabad and Ex Chairman, Higher Education Service Commission (HESC), Uttar Pradesh

K.B. Pandey, Ex Vice-Chancellor, Chhatrapati Shahu Ji Maharaj University, Kanpur and Ex Chairman, Public Service Commission, Uttar Pradesh

Shivajee Singh, Ex Head, Ancient History, Archaeology and Culture, D.D.U. Gorakhpur University, Gorakhpur

D.N. Tripathi, Ex Chairman, Indian Council of Historical Research (ICHR), New Delhi.

Narendra Kohli, Renowned author and thinker

Makkhan Lal, Director, Delhi Institute of Heritage Research and Management, New Delhi

Mrinal Shankar Raste, Ex Vice-Chancellor, Symbiosis International University, Pune

Ram Sakal Pandey, Ex Pro Vice-Chancellor, Allahabad University, Allahabad.

S.C. Bose, Ex Head, English, D.D.U. Gorakhpur University, Gorakhpur

V.K. Srivastava, Ex Head, Geography, D.D.U. Gorakhpur University, Gorakhpur

N.K.M. Tripathi, Ex Dean, Faculty of Arts and Ex Head, Psychology, D.D.U. Gorakhpur University, Gorakhpur

Sheo Bahal Singh, Ex Head, Sociology, D.D.U. Gorakhpur University, Gorakhpur

Pratibha Khanna, Ex Head, Education, D.D.U. Gorakhpur University, Gorakhpur

A.K. Srivastava, Ex Head, History, D.D.U. Gorakhpur University, Gorakhpur

R.N. Singh, Ex Head, Defence and Strategic Studies, D.D.U. Gorakhpur University, Gorakhpur

P.S. Chaturvedi, Ex Head, Ancient History, Archaeology and Culture, D.D.U. Gorakhpur University, Gorakhpur

S.S. Verma, Ex Head, Geography, D.D.U. Gorakhpur University, Gorakhpur

Sadanand Prasad Gupta, Professor, Hindi, D.D.U. Gorakhpur University, Gorakhpur

Shri Prakash Mani Tripathi, Ex Head, Political Science, D.D.U. Gorakhpur University, Gorakhpur

S. Yadav, Ex Head, Economics, D.D.U. Gorakhpur University, Gorakhpur

P.C. Shukla, Dean, Commerce, D.D.U. Gorakhpur University, Gorakhpur

Rajawant Rao, Professor, Ancient History, Archaeology and Culture, D.D.U. Gorakhpur University, Gorakhpur

V.K. Srivastava, Ex Head, Sociology, D.D.U. Gorakhpur University, Gorakhpur

Satyendra Kumar Singh, Ex Head, Music and Fine Arts, D.D.U. Gorakhpur University, Gorakhpur

Usha Singh, Music and Fine Arts, D.D.U. Gorakhpur University, Gorakhpur

Mrityunjay Kumar, Editor, Amar Ujala, Meerut

Mānaviki

AN INTERDISCIPLINARY JOURNAL OF HUMANITIES & SOCIAL SCIENCES

Volume 5 • Number 1 & 2 • 'Varsh Pratipada' & 'Vijaya Dashami, April & October 2014

Editors

Pradeep Kumar Rao & Om Jee Upadhyay

The Journal of

Maharana Pratap P.G. College

Jungle Dhusan, Gorakhpur (U.P.)

This Journal is a *Referral* Volume.

ISSN- 0976-0830

Vol. 5 • No. 1 & 2 • 'Varsh Pratipada' & 'Vijaya Dashami, April & October 2014

Mānavikī, an interdisciplinary ***refereed or peer reviewed*** journal of Humanities and Social Sciences is a biannual (Varsh Pratipada and Vijaya Dashami, i.e. April and October months of a year) and bilingual journal of Maharana Pratap P.G. College Jungle Dhusan, Gorakhpur (UP).

Copyright of the published articles, including abstracts, vests in the Editors. The objective is to ensure full Copyright protection and to disseminate the articles, and the journal, to the widest possible readership. Authors may use the article elsewhere after obtaining prior permission from the editors.

Research Papers related to Humanities and Social Sciences are invited for publication in the journal. Research papers, book reviews, Subscription and other enquiries should be sent to – Maharana Pratap P.G. College Jungle Dhusan, Gorakhpur (UP) - 273001, Mob. : 9794299451, 9452971570. You may also e-mail your contributions and correspondence at *manvikijournal@gmail.com, mpmpg5@gmail.com.*

Guidelines for Contributors given on the inner side of the back cover.

The Editors and the Publisher can not be held responsible for errors and any consequences arising from the use of information contained in this journal. The views and opinions expressed do not necessarily reflect those of the editors and the publisher.

Designed & Printed at : Moti Paper Convertors, Betia Raj House, Betiahata, Gorakhpur

Subscription Rates

	Individual		Institutional	
Annual	Rs. 300	US $ 30	Rs. 500	US $ 50
Five Years	Rs. 1250	US $ 80	Rs. 2000	US $ 125
Life (15 Years)	Rs 2500	US $ 150	Rs. 4000	US $ 200

Mānaviki

An Interdisciplinary Journal of Humanities & Social Sciences

Volume 5 Number 1 & 2 'Varsh Pratipada' & 'Vijaya Dashami, April & October 2014

CONTENTS

Articles **Pages**

1. कौटिलीय अर्थशास्त्र में वर्णित भारतीय दण्ड-व्यवस्था
   महेश कुमार शरण 1
2. बैगा जनजाति में जन्म से संबंधित व्यवहार की अवधारणाओं का समाज - एक भौगोलिक अध्ययन
   लोकेश श्रीवास्तव एवं ऋतु रानी 11
3. कांग्रेस समाजवादी दल और जय प्रकाश नारायण
   सुधाकर लाल श्रीवास्तव 26
4. ऊर्जा संकट एवं इसके संरक्षण के क्षेत्र में परिवार की जानकारी एवं जागरूकता का अध्ययन (गोरखपुर नगर क्षेत्र के संदर्भ में)
   नमितेश गुप्ता एवं उमा जोशी 33
5. भारत-कम्बुज सम्बन्ध में देवभाषा संस्कृत का योगदान
   सोनाली पल्लवी 45
6. स्मृतिशास्त्रोक्त राजपद : एक समीक्षा
   डॉली जैन 49
7. भारतीय वाङ्मय में भाषा साहित्य और संस्कृति
   रेनू यादव 57
8. चुनाव सुधार : वर्तमान परिदृश्य
   अविनाश प्रताप सिंह एवं मिथिलेश कुमार त्रिपाठी 63
9. वेद प्रतिपादित पर्यावरणीय घटक : स्वरूप एवं संरक्षण
   दुर्गेश पाण्डेय 'सांकृत्यायन' एवं सुबोध कुमार मिश्र 67

10. उत्तर आधुनिक विमर्श और समकालीन साहित्य
मुन्ना तिवारी 75

11. जिला सहकारी बैंक लिमिटेड सिद्धार्थनगर 'अ' का विकास
नीरज कुमार सिंह 88

12. बाल श्रम- दशा एवं दिशा
समीर कुमार पाण्डेय 96

13. Hindu Trinity in Laos
Ishwar Sharan Vishwakarma 101

14. Nationalism and Tagore's 'Home and The World'
Yashpal Singh & Shikha Singh 107

15. Inclusive Growth and Equality of Opportunity
Rajesh Pal 113

16. Ploughing Ceremony of Thailand : Indian Origin
Preeti Vishwakarma 128

17. The Growth of Corporate Forms in Ancient India
Babita Kumari 134

18. Centre and Bihar State Relations during Rabari Devi's Rule
Mohd. Anzar Alam 161

19. A Study on the Development of Memory Performance
Pragyesh Kumar Mishra 172

20. Theorising Bhojpuri Literature-some Context
(With special reference to Bhikhari Thakur)
Shafique Ahmed & Sandeep Rai 185

21. The Thai Family Pattern
Moti Lal Ram 199

22. A Study on Non-Verbal Intelligence of Children
Abhay Pratap Singh 207

कौटिलीय अर्थशास्त्र में वर्णित भारतीय दण्ड-व्यवस्था

महेश कुमार शरण*

कौटिल्य का स्थान प्राचीन भारत के राज शास्त्रियों में सबसे ऊँचा है और उसे शासन कला तथा कूटनीति का सबसे महान् प्रतिवादक माना जाता है। वह ऐसा व्यक्ति है जो राजा और राजवंश का न होते हुये भी भारतीय इतिहास के सर्वप्रथम सर्वप्रसिद्ध सम्राट का निर्माता और उसके वंश के साम्राज्य का संस्थापक है। कौटिल्य रचित अर्थशास्त्र राजशास्त्र का सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ है जिसका एकमेव विषय राजनीति है। भारत ही नहीं वरन् विश्व के राजनीतिज्ञ कौटिल्य को पारंगत राजनीतिज्ञ तथा मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के प्रख्यात मंत्री के रूप में जानते हैं।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र से हम यह जानते हैं कि राजा की दण्डनीति ही अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त कराने वाली, प्राप्त हुये धन की रक्षा कराने में तत्पर और संवर्धित वस्तुओं को समुचित कार्यों में लगाने का निर्देश करती है। इसी पर विश्व की सारी लोक यात्रा निर्भर है, अत: लोक को समुचित मार्ग पर चलाने के लिए राजा को सदा ही दण्ड देने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए। प्राचीन राजनीतिक विचारकों का ऐसा मत है कि सभी प्राणियों को सहज ही वश में करने के लिए दण्ड के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है। पर कौटिल्य ऐसा मानते हैं कि कठोर दण्ड देने वाले राजा से सभी प्राणी उद्विग्न हो जाते हैं और नरम दण्ड देने से प्रजा तिरस्कार करने लगा जाती है अस्तु, राजा को सोच समझकर समुचित दण्ड देना चाहिए। जिससे प्रजा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को समझते हुए अपने देश के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करे।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र के पहला, तीसरा, चौथा और पाँचवाँ अधिकरण में दण्ड-व्यवस्था, कानून और न्याय के साथ-साथ दण्ड का भी वर्णन किया है। यद्यपि उसने निरंकुश राजतन्त्र की व्यवस्था की बड़ी प्रशंसा की है, लेकिन वह गजा को विधि के ऊपर नहीं मानता है। विधि के शासन का राजा संचालक होता है। वह स्वयं कानून का पालन करता है और प्रजा से कराता है। कौटिल्य ने धर्म राज्य की कल्पना भी की है। राज्य को धर्म के बाद दूसरा स्थान दिया गया है। उसका उद्देश्य यही था कि राजा धर्म के विपरीत न चले और वह स्वेच्छाचारी शासक न बन पाये।

---

*पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, स्नातकोत्तर प्राचीन भारतीय एवं एशियाई अध्ययन विभाग, गया कालेज, गया
(मगध विश्वविद्यालय, बोधगया)

जैसा कि हम जानते हैं कि न्याय की अवस्थिति दण्ड पर निर्भर है। अतः अर्थशास्त्र के धर्मस्थ अधिकरण (तीसरा) में कौटिल्य ने दण्ड व्यवस्था पर विस्तार से प्रकाश डाला है। कौटिल्य की दण्ड-व्यवस्था को पढ़कर उसकी तत्वग्राही बुद्धि का परिचय हमें मिलता है। कौटिल्य का मानना है कि मनुष्य जिस सामाजिक वातावरण में रहता है उसमें अपराध का होना निश्चित है। अतः समाज को अपराध से बचाना है और व्यक्ति में पाये जाने वाले अपराधी-प्रवृत्ति को समाप्त कर देना है। कौटिल्य का मत है कि काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष ये छः शत्रु न जाने कब मनुष्य को उत्तेजित करके उसको अधर्म और दुराचरण की ओर ले जाते हैं। यदि ऐसी स्थिति आ गयी तो निश्चय ही समाज में मत्स्य न्याय फैल जाएगी अर्थात् बलवान निर्बल को निगल जायेगा।[1] इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर कौटिल्य ने दण्ड की व्यवस्था की है।

दण्ड का उद्देश्य एवं उसका स्वरूप

प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने धर्म (कर्तव्य) का पालन करता रहे और सदाचार में प्रवृत रहे, कौटिल्य की दण्ड-व्यवस्था का यह प्रमुख उद्देश्य है।

कौटिल्य ने धर्म और सदाचार की अवरोधक प्रवृत्तियों के दमन हेतु, दण्ड की व्यवस्था की है। कौटिल्य की यह दण्ड-व्यवस्था बहुत ही वैज्ञानिक है। जिस रूप में मनुष्य का धर्म बना रहे और और समाज में लोक-कल्याण के आदर्श प्रतिष्ठित रहें, वैसे विधान से दण्ड की व्यवस्था की गयी है। कौटिल्य ने कहा है कि राजा दण्ड का अधिकारी होता है। इसलिए उसका दण्ड सुधारात्मक होना चाहिए। राजा दण्ड का प्रतीक है। वह अपराधी को दण्ड और चरित्रवान को पुरस्कार देने का अधिकारी है। वह इन्द्र और यम के समान है। राजा को संहारात्मक या प्रतिशोधात्मक दण्ड नहीं देना चाहिए। दण्ड-व्यवस्था निष्ठुरतापूर्ण न होकर हृदयतापूर्ण होना चाहिए। प्रजा निष्ठुर दण्ड से राजा से असंतुष्ट हो जाती है और यदि दण्ड की उचित व्यवस्था न होगी तो राज्य में अराजकता फैल जायगी और राजा तिरस्कृत हो जायेगा। राजा ऐसा दण्ड दे जो उचित हो और न्याययुक्त हो, इससे राजा के प्रति जनता की श्रद्धा बढ़ेगी तथा वह सम्मान का पात्र होगा। उचित दण्ड का अर्थ यह नहीं कि अपराधी के प्रति राजा अति दयालुता का प्रयोग करे। इससे अपराध वृत्ति बढ़ेगी और अराजकता फैलेगी।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के प्रथम अधिकरण के तीसरा अध्याय में स्पष्ट रूप से ऐसा लिखा है कि कठोर दण्ड देने वाले राजा के सभी प्राणी उद्विग्न हो उठते हैं। लेकिन, दण्ड में ढिलाई कर देने से भी लोक, राजा की अवहेलना करने लगता है। इसलिए राजा को समुचित दण्ड देना चाहिए। वह आगे कहता है कि भली-भाँति सोच-समझकर प्रयुक्त दण्ड प्रजा को धर्म, अर्थ और काम में प्रवृत्त करता है। काम-क्रोध के वशीभूत होकर अज्ञानतापूर्वक अनुचित रीति से प्रयुक्त किया हुआ दण्ड, वानप्रस्थ और परिव्राजक जैसे निःस्पृह व्यक्तियों को भी कुपित कर देता है, फिर गृहस्थ लोगों

पर ऐसे दण्ड की क्या प्रतिक्रिया होगी, सोचा नहीं जा सकता है।[2]

अत: कौटिल्य सुधारात्मक और समुचित दण्ड के पक्षधर हैं।

दण्ड निर्धारण का सिद्धान्त

दण्ड निर्धारण के सम्बन्ध में कौटिल्य के समानता सिद्धान्त को नहीं मानता है। उसके अनुसार महिलाओं और बालकों को कम दण्ड मिलना चाहिए। उसने वर्ण व्यवस्था के आधार पर भी भेद किया है। उसका कहना है कि ब्राह्मणों को कम दण्ड मिलना चाहिए। इस प्रकार कौटिल्य का कथन है कि दण्ड का निर्धारण अपराधा के अनुकूल, अपराधी के सामर्थ्य, अपराधी के वर्ण, लिंग, अवस्था, अपराध की परिस्थितियों को समुचित ज्ञान करके तथा अपराधी के सुधार को ध्यान में रखकर देना चाहिए।

इसके साथ ही कौटिल्य का मत है कि दण्ड प्रजा की अपेक्षा राजकर्मचारियों को अधिक देना चाहिए। उसका कहना है कि यदि अपराधी राजकर्मचारी को कठोर दण्ड नहीं दिया गया तो राज्य की प्रतिष्ठा घटेगी तथा वह धीरे-धीरे प्रभाव-हीन हो जायगा। प्रजा के मत में राज्य के प्रति श्रद्धा बढ़ती रहे तथा वह राजकर्मचारियों को अपना रक्षक समझती रहे, इससे ही राज्य की प्रतिष्ठा बढ़ती है।

कौटिल्य का विचार है कि अपराध के अनुसार समान रूप से अपराधी को दण्ड मिलना चाहिए। इससे लोक और परलोक दोनों की रक्षा होती है। कौटिल्य के शब्दों में-पुत्र और शत्रु को उनके अपराध के अनुसार समान रूप से राजा द्वारा दिया हुआ दण्ड ही लोक और परलोक की रक्षा करता है।[3]

दण्ड के प्रकार

कौटिल्य ने अपराधियों के लिए तीन प्रकार के दण्डों की व्यवस्था की है-

(क) शारीरिक दण्ड (ख) आर्थिक दण्ड और (ग) कारागार या जेल। इनका उल्लेख निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है-

(क) शारीरिक दण्ड- शारीरिक दण्ड के अन्तर्गत कौटिल्य ने सर्वप्रथम चार प्रकार के दण्डों का विधान किया है- (1) छह डंडे मारना (2) सात कोड़े मारना (3) हाथ-पैर बाँधकर उल्टा लटका देना और (4) नाक में नमक का पानी डालना।[4]

कौटिल्य ने अन्य प्रकार के दण्डों का भी विधान किया है। उसके अनुसार पापाचारी पुरुषों के लिए निम्न दण्ड है :-

1. नौ हाथ लम्बी बेंत से बारह बेत लगाना,
2. दोनों टाँगों को बाँधकर करञ्ज की छड़ी से बीस छड़ी मारना,
3. बत्तीस थप्पड़ मारना,
4. बायें हाथ को पीछे बायें पैर से और दाये हाथ को पीछे दायें पैर से बांधना
5. दोनों हाथ आपस में बांधकर लटका देना,
6. हाथ के नाखून में सुई चुभाना,
7. दोनों पैर आपस में बाँधकर लटका देना,
8. लस्सी पिलाकर पेशाब न करने देना,
9. अंगुली की एक पोट जला देना,
10. घी पिलाकर पूरे दिन अग्नि या धूप में बैठाना
11. जाड़ों की रात में भींगी हुई खाट पर सुलाना।[5]

कौटिल्य का सुझाव है कि इस प्रकार के दण्ड-कर्म के लिए रस्सी, डंडे, कौड़े आदि की लम्बाई, दण्डनीय व्यक्ति को खड़ा आदि करने का तरीका और शरीर आदि के अनुकूल दण्ड व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में आचार्य खरपट्ट दण्डशास्त्र-विषयक ग्रन्थ का अनुसरण करना चाहिए।

कौटिल्य का कथन है कि कठिन शारीरिक श्रम के कार्यों को एक-एक दिन का अन्तर देकर कराया जाय। जो लोग सूचना देकर चोरी करे, प्रण करें, किसी की वस्तु को छीनें, चोरी हुई वस्तु के टुकड़े-टुकड़े करके उसे काम में लाये, चोरी करते या माल ले जाते पकड़े जायें, खजाना उड़ाकर ले जायें और गौ हत्या आदि महा अपराध करे, उन सबको राजा के आज्ञानुसार एक साथ अलग-अलग या बारी-बारी आजीवन कठिन श्रम का दण्ड दिया जाय।[6]

कौटिल्य पुनः कहता है कि माता-पिता को गाली देने वाले की जीभ कटवा दी जाय। माता-पिता के किसी अंग को कोई जिस अंग से नोचे-खसोटे उनका वहीं अंग कटवा दिया जाय। जो व्यक्ति राजा को गाली दे, गुप्त रहस्य को खोल दे, राजा के अनिष्ट को फैलाये और ब्राह्मण की भोजनशाला से बलपूर्वक अन्न लेकर खाने लगे उसकी जिह्वा कटवा दी जाय। यदि कोई व्यक्ति किसी का लिंग और अण्डकोश काट डाले तो उसका भी लिंग और अण्डकोश कटवा दिया जाय। किसी की जीभ और नाक काट देने वाले व्यक्ति की कनिष्ठका और अंगूठा कटवा दिया जाय।[7]

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के चौथा अधिकरण के ग्यारहवें और तेरहवें अध्याय में विभिन्न अपराधों के लिए प्राणदण्ड का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। उसका मत है कि कोई व्यक्ति यदि

लड़ाई-झगड़े में किसी व्यक्ति को जान से मार डाले तो उसको कष्टपूर्वक प्राण दण्ड (चित्रधात) की सजा दी जाय। झगड़ा होने के बाद चोट खाया व्यक्ति यदि सात दिन बाद मरे तो मारने वाले को शुद्ध प्राणदण्ड (कष्ट रहित वध) दिया जाय।

कौटिल्य लिखता है कि यदि कोई व्यक्ति बलात्कार से किसी स्त्री या पुरुष की हत्या कर डाले, बलात्कार से किसी स्त्री को उड़ा ले जाय, बलात्कार से किसी स्त्री को नाक-कान काट ले, धमकी देकर हत्या, चोरी की घोषणा करने वाला, बलात्कार से नगर तथा गाँवों का धन ले जाने वाला, भीत तोड़कर सेंध लगाने वाला, रास्ते की धर्मशालाओं तथा पनशाला को नष्ट करने वाला और राजा के हाथी, घोड़े तथा रथों को नष्ट करने, मारने या चुराने वाला, इन सभी प्रकार के अपराधियों को शूली पर लटका दिया जाय।

इसके साथ ही, इन लोगों का जो दाह-संस्कार या क्रिया-कर्म करे या उनकी उठाकर गंगा-प्रवाह आदि के लिए ले जाय उसको भी शूली पर चढ़ाया जाय। कौटिल्य का मत है कि राजसिंहासन को हथियाने की इच्छा रखने वाले, अन्तःपुर में व्यर्थ का झमेला खड़ा कर देने वाले : आटवी एवं पुलिंद आदि शत्रु राजाओं को उभाड़ने वाले, किले की सेना तथा बाहर की सेना में विद्रोह फैला देने वाले, पुरुषों के लिए और हाथ में आग लगाकर उनको कत्ल किया जाय।

जो व्यक्ति माता, पिता, पुत्र आदि आचार्य और तपस्वी की हत्या कर डाले उसके सिर की खाल उतरवाकर उसमें आग लगाई जाय और तब उसको कत्ल कराया जाय। जो व्यक्ति किसी दूसरे को अचानक ही मार डाले या पशुओं के झुंड की तथा घोड़ों की चोरी करे उसको प्राण दण्ड दिया जाय। कम-से-कम दस पशुओं का एक झुंड समझाना चाहिए। साथ ही, विष देकर किसी की हत्या करने वाले स्त्री-पुरुष को जल में डुबाकर खत्म कर दिया जाय, बशर्ते कि वह स्त्री गर्भिणी न हो। यदि गर्भिणी हो तो बच्चा होने के एक मास बाद उसका ऐसा ही प्राणांत किया जाय। इतना ही नहीं, अपने पति, गुरू और बच्चे की हत्या करने वाली, आग लगाने वाली, विष देने वाली, सेंध लगाकर चोरी करने वाली, स्त्री को गायों के पैरों के नीचे कुचलवा कर मारा जाय। साथ ही, जो व्यक्ति चरागाह, खेत, खलिहान, घर और लकड़ियों से सुरक्षित जंगल में आग लगा दे उसको आग में ही जला दिया जाय।[8]

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के चौथा अधिकरण के तेरहवां अध्याय में लिखा है कि जो पुरुष अपनी मौसी, बुआ, मामी, गुरुपत्नी, पुत्रबधू, लड़की और बहन के साथ व्यभिचार करे उसका लिंग और अण्डकोश काटकर उसको प्राण दण्ड की सजा दी जाय। यदि मौसी, बुआ आदि स्वयं ऐसा करायें तो उनके दोनों स्तन काटकर और उनका भग-छेदन कर उन्हें भी प्राण दण्ड की सजा दी जाय। दास और परिचारक यदि व्यभिचार करें तो उन्हें भी यही दण्ड दिया जाय।

इसके साथ ही, लोक-लाज से रहने वाली ब्राह्मणी के साथ यदि शूद्र व्यभिचार करे तो उसको तिनको की आग में जला दिया जाय। राजा की स्त्री के साथ जो कोई भी व्यभिचार करे तो उसे तपे भाड़ में भून दिया जाय। इतना ही नहीं, चांडाल यदि किसी आर्या स्त्री के साथ संभोग करे तो उसे प्राण-दण्ड दिया जाय और उस स्त्री के नाक-कान काट दिये जाए।[9]

इस प्रकार कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में प्राणदण्ड की व्यवस्था की है।

शारीरिक दण्ड के अपवाद

कौटिल्य ने शारीरिक दण्ड के कुछ अपवादों का उल्लेख दिया है। उसके अनुसार छोटे अपराधी बालक, बृद्ध, बीमार, पागल, उन्मादी, भूखा, प्यासा, थका, अति भोजन किये, अजीर्ण, रोगी और निर्बल आदि व्यक्तियों को कोड़े मारकर शारीरिक दण्ड न दिया जाय।[10]

इसके साथ ही जिसका अपराध प्रमाणित हो चुका हो उसी को दण्ड दिया जाय। लेकिन, गर्भिणी और एक महीने से कम प्रसूता स्त्री को कदापि दण्ड न दिया जाय। उपर्युक्त अपराधों में जो दण्ड पुरुषों के लिए कहे गये हैं उनका आधा दण्ड स्त्रियों को दिए जाय, अथवा उनकी केवल वाग्दण्ड (वाणी से ताड़ना) ही दिया जाय। ब्राह्मण, वेदज्ञ और तपस्वी को इतना मात्र दण्ड दिया जाय कि सिपाही उनकी इधर-उधर दौड़ा फिरा दें।[11]

इस प्रकार कौटिल्य ने शारीरिक दण्ड के अन्तर्गत कोड़े मारना, अंग छेदन अंग भंग, हाथ-पैर बाँधकर उलटा लटकाना और प्राणदण्ड तक की व्यवस्था की है।

आर्थिक दण्ड या जुर्माना

कौटिल्य ने आर्थिक दण्ड को मुख्यतया तीन श्रेणियों में रखकर विवेचन किया है। प्रथम, मध्यम और उत्तम साहस दण्ड की दो सौ से पाँच सौ पण तक और उत्तम साहस दण्ड की पाँच सौ से एक हजार पण तक बतायी गयी है।[12] इसके अतिरिक्त विविध छोटे-बड़े अपराधों के लिए अलग-अलग राशि के अर्थदण्डों का अर्थशास्त्र में विधान यत्र-तत्र हम पाते हैं।

कारागार या जेल

कौटिल्य ने अपराधियों के लिए जेल की व्यवस्था की है। उसका कथन है कि अगर कोई ब्राह्मण राजसिंहासन के विरूद्ध कार्य करे तो उसे आजीवन के लिए काल-कोठरी में बन्द कर देना चाहिए।[13] कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के दूसरा अधिकरण के पाँचवें अध्याय में कारागृह के संबंध में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि न्यायाधीश और समाहर्ता आदि से सजा पाये हुए लोगों की कारागृह में रखना चाहिए। कारागृह में स्त्री-पुरुषों के लिए अलग-अलग स्थान होना चाहिए। उसके वहिमार्ग तथा चारों ओर की अच्छी तरह रक्षा होनी चाहिए।[14]

कौटिल्य ने शुभ अवसरों पर कैदियों की जेल से मुक्त करने के पक्ष में अपना विचार प्रकट किया है। उसके शब्दों में- किसी नये देश को जीतने पर, युवराज का राज्याभिषेक होने पर, राजपुत्र के जन्मोत्सव पर कैदियों को छोड़ देना चाहिए।[15]

विधि के अनुरूप दण्ड

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के तीसरा अधिकरण में विभिन्न प्रकार के कानूनों के अन्तर्गत दण्ड का विधान किया है। पर यहाँ पर हम कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित विवाह सम्बन्धी कानून एवं दण्ड की ही व्याख्या करने जा रहे हैं जो दण्ड के क्षेत्र में विशेष महत्व रखता है।

कौटिल्य ने विवाह सम्बन्धी विधि के उल्लंघन करने वालों के लिए निम्नलिखित दण्डों की व्यवस्था की है। अगर किसी पुरुष को आठ, दस और बारह वर्ष तक प्रतीक्षा करने के बाद पुत्र प्राप्ति न हो तो वह पुनर्विवाह कर सकता है। यदि वह इस नियम का उल्लंघन करे तो उसे चौबीस पण तक सरकार को जुर्माना देना होगा। इसके साथ ही, यदि कोई पुरुष ऋतुकाल को छिपाकर अपनी स्त्री से संसर्ग नहीं करता तो उसको सरकार की ओर से छियानवे पण दण्ड दिया जाय।[16]

बारह वर्ष की लड़की और सोलह वर्ष का लड़का विधि अनुसार वयस्क माने जाते हैं। इस उम्र के बाद यदि वे राज-नियम का उल्लंघन करे तो लड़की को बारह पण और लड़के को चौबीस पण का दण्ड दिया जाय।[17]

पराई स्त्री के साथ संभोग करने के चिह्न स्पष्ट दिखाई देने पर भी यदि कोई पुरुष अस्वीकार करता या किसी प्रेमिका के साथ संभोग करके साफ इन्कार कर दे तो उसको बारह पण का दण्ड दिया जाय।[18]

कौटिल्य ने पति-पत्नी के अत्याचार पर भी विस्तृत रूप से दण्डों का विधान किया है। उसका कथन है कि मना किए जाने पर भी यदि कोई स्त्री मद्यपान और विहार करे तो उस पर तीन पण, पति के मना करने पर यदि दिन में सिनेमा देखे तो छः पण और यदि किसी पुरुष के साथ सिनेमा देखे तो बारह पण जुर्माना दिया जाय। यदि यही अपराध वह रात में करे तो उसको दुगुना दण्ड दिया जाय।

यदि कोई स्त्री सोते हुए या उन्मत्त हुए अपने पति को छोड़कर घर से बाहर चली जाय अथवा पति की इच्छा के विरूद्ध घर का दरवाजा बन्द कर दे तो उसको बारह पण दण्ड देना चाहिए। यदि कोई स्त्री अपने पति को रात में घर से बाहर कर दे तो उस स्त्री पर चौबीस पण का दण्ड दिया जाय।

परपुरुष या परस्त्री परस्पर मैथुन के लिए यदि इशारेबाजी करें या एकान्त में अश्लील

बातचीत करें तो स्त्री पर चौबीस पण और पुरुष पर अड़तालीस पण का जुर्माना किया जाय।

यदि वे परस्पर केश तथा कमर पकड़े एक दूसरे को चुमें, दाँत काटे या नाखून गड़ावे तो इस अपराध में स्त्री को पूर्व साहस दण्ड और पुरुष को उससे दुगुना दण्ड दिया जाय।

यदि किसी संकेत स्थान में यदि वे परस्पर बातचीत करें तो आर्थिक दण्ड की जगह उन पर कोड़े लगाये जायं। इस प्रकार की दोषी स्त्री के किसी एक ही अंग पर गाँव के चण्डाल द्वारा पाँच कोड़े लगवाए जाए। अगर पण दण्ड अदा कर दिया जाता है तो प्रहार दण्ड कम कर दिया जाय।

वर्जित करने पर यदि कोई स्त्री तथा पुरुष छोटी-छोटी उपहार की वस्तुयें देकर परस्पर उपहार करें तो छोटे उपहार पर स्त्री को बारह पण और बड़े उपहार पर चौबीस पण दण्ड दिया जाय। यदि उपहार में वह सोने की कीमती चीजें दे तो उसे चौबीस पण का दण्ड दिया जाय। इन अपराधों को यदि पुरुष करे तो उस पर स्त्री से दुगुना दण्ड दिया जाय। यदि वे स्त्री-पुरुष बिना मुलाकात किए ही उपहार की चीजें लेते देते रहें तो पूर्वोक्त दण्ड से आधा दण्ड दिया जाय।

कौटिल्य ने स्त्रियों का घर से बाहर जाने पर दण्ड का विधान किया है। उसके अनुमार पति घर से भागी हुई स्त्री पर छः पण का दण्ड दिया जाय, लेकिन यदि वह किसी भय के कारण भागे तो अदण्ड्य समझी जाय। पति के रोकने पर भी यदि कोई स्त्री घर से भाग निकले तो उस पर बारह पण दण्ड दिया जाय। यदि वह पड़ोसी के ही घर में चली जाय तो उसे छः पण का दण्ड दिया जाय।

पति की आज्ञा के बिना पड़ोसी को अपने घर में शरण देने, भिखारी को भीख देने और व्यापारी को किसी तरह का माल देने वाली स्त्री को बारह पण दण्ड दिया जाय। यदि कोई स्त्री निषिद्ध व्यक्तियों के साथ यही व्यवहार करे तो उसे प्रथम साहम दण्ड दिया जाय। यदि वह निर्दिष्ट सीमा के घरों से बाहर जाये तो उसे चौबीस पण दण्ड दिया जाय।

विपत्ति रहित किसी पर-पत्नी को अपने घर में शरण देने वाले पर सौ पण का दण्ड दिया जाय। यदि कोई स्त्री गृहस्वामी के रोकने पर या छिपकर उसके घर में घुस जाय तो उस स्थिति में गृहस्वामी निरपराध समझा जाय। मृत्यु, बीमारी, विपत्ति और प्रसव काल में स्त्री अपने सम्बन्धियों के यहाँ जा सकती है। इन अवसरों पर यदि कोई पुरुष अपनी स्त्री को अपने सम्बन्धियों के यहाँ जाने से रोके तो वह बारह पण दण्ड का अपराधी है।

रास्ते में किसी पर-पुरुष के साथ स्त्री के चलने के सम्बन्ध में कौटिल्य का विचार है कि पति घर से भाग कर दूसरे गाँव में जाने वाली स्त्री को बारह पण का दण्ड दिया जाय। यदि वह मैथुन के लिए किसी पुरुष का सहवास करे तो उस पर चौबीस पण दण्ड दिया जाय। यदि उच्च वर्ण का व्यक्ति इस अपराध को करे तो उसे प्रथम साहस दण्ड दिया जाय और निम्न वर्ण के व्यक्ति

को मध्यम साहस दण्ड। भाई यदि इस अपराध को करे तो दण्डनीय नहीं होता। यदि निषेध किए जाने के बाद वह इस अपराध को करे तो उसे आधा दण्ड दिया जाय।

मना करने पर भी यदि कोई पुरुष किसी स्त्री को साथ ले जाय या स्त्री ही स्वयं किसी पुरुष के साथ चली जाय, तो उन्हें आधा दण्ड दिया जाय। इसके साथ ही, यदि कोई स्त्री मार्ग, जंगल या किसी गुप्त स्थान में अथवा किसी संदिग्ध या वर्जित पुरुष के साथ मैथुन के लिए घर से भाग निकले तो उसे गिरफ्तार कर अपराध के अनुसार दण्ड दिया जाय।[19]

कौटिल्य का कथन है कि अपने पति की सम्पत्ति के हकदार पुरुषों को छोड़कर यदि कोई स्त्री किसी दूसरे पुरुष के साथ विवाह करे तो विवाह करने वाला पुरुष उस स्त्री को देने वाला, उस विवाह में शामिल होने वाले, ये सभी लोग, स्त्री को बहकाने या अनुचित ढंग से उसको अपने काबू में करने के जुर्मदार समझे जाय और उनको यथोचित दण्ड दिया जाय।[20]

कन्या के किसी गुप्त दोष को छिपाकर उसका विवाह करने वाले व्यक्ति पर छियानवे पण दण्ड दिया जाय और उसे जो शुल्क तथा स्त्रीधन दिया है वह वापस लिया जाय। इसी प्रकार जो वर के दोषों को छिपाकर विवाह करता है, उस पर दुगुना अर्थात् एक सौ बानवे पण दिया जाय और उसको दिया हुआ शुल्क तथा स्त्री धन भी जप्त कर लिया जाय।[21]

संदर्भ

1. कौटिल्य – कौटिलीय अर्थशास्त्रम्, अनुवादक वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा, विद्या भवन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण 1977, पहला अधिकरण, तीसरा अध्याय, पृ. 16
2. वही, पहला अधिकरण, तीसरा अध्याय, पृ. 16
3. दण्डो हि केवली लोकं परं चेमं च रक्षति।
   राजा पुत्रे च शत्रो च यथा दीष संम धृतः
   वही, तीसरा अधिकरण, पहला अध्याय, पृ. 318
4. व्यावहारिक कर्मचतुष्डम्-षड् दण्डाः सप्त कशाः द्वावुषरि निवन्धी, उदक-तालिका च।
   वही, चौथा अधिकरण, आठवां अध्याय, पृ. 460
5. वही, पृ. 461
6. वही, चौथा अधिकरण, आठवाँ अध्याय, पृ. 461 और 462
7. वही, चौथा अधिकरण, ग्यारहवाँ अध्याय, पृ. 476 और 477
8. वही, चौथा अधिकरण, ग्यारहवाँ अध्याय पृ. 474-476
9. वही, चौथा अधिकरण, तेरहवाँ अध्याय, पृ. 488-489
10. मन्दापराधं बालं वद्धं व्याधितं मत्तमुन्मतं क्षुत्पिपासाहवक्लान्त
    मत्याशितमाम काशिंत दुवंल वा न कर्म कारयेत्।
    वही, चौथा अधिकरण, आठवाँ अध्याय, पृ. 460

11. वही, पृ. 460
12. वही, तीसरा अधिकरण, सतरहवाँ अध्याय पृष्ठ संख्या, 402
13. वही, चौथा अधिकरण, ग्यारहवाँ अध्याय, पृ. 475
14. धर्मस्थीयं महामात्रीयं विभक्त स्त्रीपुरुषस्थानमयसारतः सुगुप्तकक्ष्यं अन्धनागार कारयेत्।
15. अपूर्वदेशाधिगमे युवराजभिषेचने।
पुत्रजन्मनि वा मोक्षो बन्धनस्य विधीयते।।
वही, दूसरा अधिकरण, छतीसवाँ अध्याय, पृ. 308
16. वही तीसरा अधिकरण, दूसरा अध्याय, पृ. 324 और 325
17. द्वादशवर्षा स्त्री प्राप्तव्यवहारा भवति, षोडशवषः पुमान्।
अत ऊर्ध्वमशंश्रूषायां द्वाद्वशपणः स्त्रियां दण्डः पुंसो द्विगुणः।
18. इष्टलिंगे मैथुनाषहारे सवर्णापसर्पोपगमे वा मिथ्यावादी द्वातशपणः दध्यात्।
वही, तीसरा अधिकरण, तीसरा अध्याय पृ. 328
19. वही, तीसरा अधिकरण, तीसरा और चौथा अध्याय, पृ. 328–334
20. एतानुत्कम्य दायावान वेदने जातकर्मणि।
वारस्त्रीदात्वेतारः सम्प्रप्ताः संड्ग्रहात्ययम्।।
वही, पृ. 336
21. वही, पृ. 393 और 394

बैगा जनजाति में जन्म से संबंधित व्यवहार की अवधारणाओं का समाज - एक भौगोलिक अध्ययन

लोकेश श्रीवास्तव* एवं ऋतु रानी**

प्रस्तावना

भारत में मातृत्व काल को स्त्री के लिए महत्त्वपूर्ण अवधि माना जाता है। सम्पूर्ण भारत में इस काल को अधिकांशतः उपेक्षा से देखा जाता है। भारतीय महिला औसत रूप से अपने मातृत्व काल में 6 से 7 बार गर्भधारण करती है। इनमें जन्म लेने वाले 5 से 6 शिशुओं में से केवल 4 से 5 ही जीवित रह पाते हैं (यूनीसेफ)। इस प्रकार भारतीय महिला के जीवन का एक बहुत बड़ा और महत्त्वपूर्ण समय गर्भावस्था तथा धात्री अवस्था में ही व्यतीत हो जाता है। हमारे देश की यह व्यथा है कि वह महिला अधिक भाग्यशाली मानी जाती है जो अधिक से अधिक संख्या में शिशुओं को जन्म देती है। बार-बार गर्भाधारण व प्रसव की अवस्था से गुजरने के कारण वह अस्वस्थ होती है, साथ ही पहले की अपेक्षा दूसरे, तीसरे प्रसव में जन्म लेने वाले शिशु का स्वास्थ्य भी कमजोर होता जाता है।

भारतीय विभिन्न समाजों में गर्भावस्था के दौरान व प्रसव के बाद की स्थिति में विशेष संरक्षण की रीतियाँ अपनायी जाती हैं, जिससे गर्भवती व शिशु के स्वास्थ्य को विशेष लाभ हो सके। अलग-अलग समाजों में अलग-अलग संरक्षण की रीतियाँ अपनायी जाती हैं। ग्रामीण अंचलों में परम्परागत रूप से गर्भावस्था में संरक्षण किया जाता है तथा दाई व वृद्ध महिला के द्वारा प्रसव कराया जाता है। गर्भवती महिला को भोजन इत्यादि में विशेष खाद्यों को दिया जाता है या कुछ खाद्यों को निषेध कर दिया जाता है, जिसमे गर्भवती व उसके गर्भस्थ शिशु को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत अध्ययन में डिण्डौरी जिले की बैगा स्त्रियों की प्रजनन अवस्था और उसके उपरान्त अपनायी जाने वाली व्यवहार प्रणाली से संबंधित विभिन्न पहलुओं को शामिल किया गया है। अध्ययन के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं -

*भूगोल विभाग, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (म.प्र.)

**शासकीय महाकोशल कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, जबलपुर (म.प्र.)

- बैगा स्त्री के प्रजनन काल में और प्रसवोपरान्त अपनायी जाने वाली व्यवहार प्रणाली का अध्ययन करना।
- प्रजनन काल के दौरान खाद्य व कार्यों से संबंधित जानकारी प्राप्त करना।
- आधुनिक चिकित्सा व्यवस्था को इस दौरान अपनाये जाने का अध्ययन करना।
- नवजात शिशु मे संबंधित संरक्षण प्रणाली का अध्ययन करना।
- गर्भवती स्त्री व नवजात शिशु से संबंधित परम्परागत चिकित्सा संरक्षण प्रणाली का अध्ययन करना।

विधि तंत्र

(1) अध्ययन क्षेत्र

प्रस्तुत अध्ययन में मध्यप्रदेश के नवनिर्मित जिले डिण्डौरी की बैगा स्त्रियों की प्रजनन अवस्था और प्रसवोपरान्त अपनायी जाने वाली व्यवहार प्रणाली का अध्ययन किया गया है। बैगा जनजाति मध्यप्रदेश के डिण्डौरी जिले की प्रमुख जनजाति है। डिण्डौरी जिले में इनकी कुल जनसंख्या सन् 1992-93 में 21239 थी। यह जनजाति नर्मदा घाटी के क्षेत्र और सतपुड़ा के घने साल के वनों में निवास करती है। डिण्डौरी जिला 1998 में मण्डला जिले से अलग हुआ है। इसका विस्तार 22°17' से 23°22' उत्तरी अक्षांश और 80°35' से 80°58' पूर्वी देशान्तर तक है। डिण्डौरी जिले के अन्तर्गत 6128 वर्ग किलोमीटर का क्षेत्र निहित है। यह मध्यप्रदेश का जनजातीय बहुलता वाला प्रमुख क्षेत्र

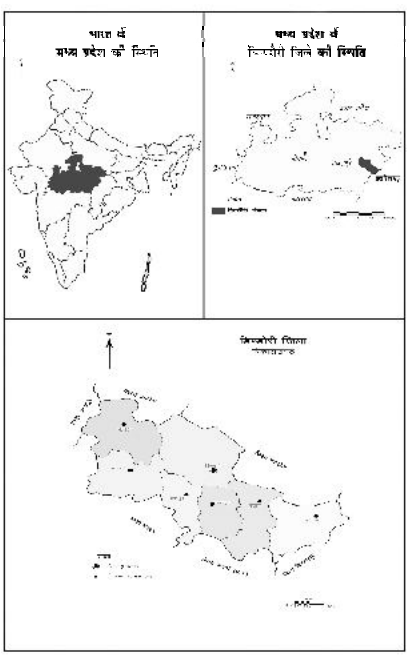

है। प्रशासनिक दृष्टिकोण से इस जिले को दो प्रमुख तहसीलों में बाँटा गया है- डिण्डौरी तहसील और शहपुरा तहसील। इस जिले में मुख्य जनजातियाँ गोंड और बैगा हैं। बैगा जनजाति की बहुलता वाला यह जिला **"बैगा का मूल क्षेत्र"** कहलाता है। (मानचित्र परिशिष्ट क्रमांक-1)

(2) आँकड़ों का प्रदर्शन

प्रजनन अवस्था और प्रसवोपरान्त अपनायी जाने वाली व्यवहार प्रणाली संबंधी जानकारी को एकत्रित करने के लिए प्रश्नावली, साक्षात्कार और अवलोकन जैसी सांख्यिकीय विधियों को अपनाया गया है। निदर्शन के रूप में डिण्डौरी जिले के चार विकासखण्डों (डिण्डौरी, अमरपुर, शहपुरा और मेहंदवानी प्रत्येक) से 50 परिवारों और तीन विकासखण्डों (बजाग, समनापुर और करंजिया प्रत्येक) से 100 परिवारों का अध्ययन कर आँकड़ों को एकत्रित कर सारणीबद्ध विश्लेषण किया गया है।

परिणाम एवं तार्किक व्याख्या

बैगा जनजाति बाहुल्य क्षेत्रों में महिलाएँ अधिकतर अज्ञानता व अन्धविश्वासों के कारण पिछड़ी हुई मानसिकता को अपनाये हुए हैं। डिण्डौरी जिले की बैगा महिलाओं में गर्भावस्था एवं प्रसव के बाद की अवस्था के संरक्षण का अध्ययन किया गया, जिससे निम्न तथ्य सामने आये हैं-

1. गर्भावस्था की अवधारणा

बैगा जनजाति में गर्भधारण की अवस्था तब मानी जाती है जब महिला की माहवारी रुक जाती है। माहवारी के रुकने के बाद एक या दो माह तक यही स्थिति रहने पर बैगा महिला को गर्भवती माना जाता है। गर्भावस्था की अवधारणा में बैगा जनजाति अधिकांश रूप से ईश्वरीय कृपा और प्राकृतिक घटना के रूप में मनाती है। इस तथ्य का विश्लेषण निम्न सारणी में किया गया है-

सारणी क्रमांक -1

गर्भावस्था की अवधारणा

क्रमांक	अवधारणा	उत्तरदाता संख्या	प्रतिशत
1.	प्राकृतिक घटना	226	45.2
2.	व्यक्तिगत घटना	77	15.4
3.	अनिच्छा	74	14.8
4.	ईश्वरीय कृपा	123	24.6
	योग	500	100

आरेख क्रमांक-1

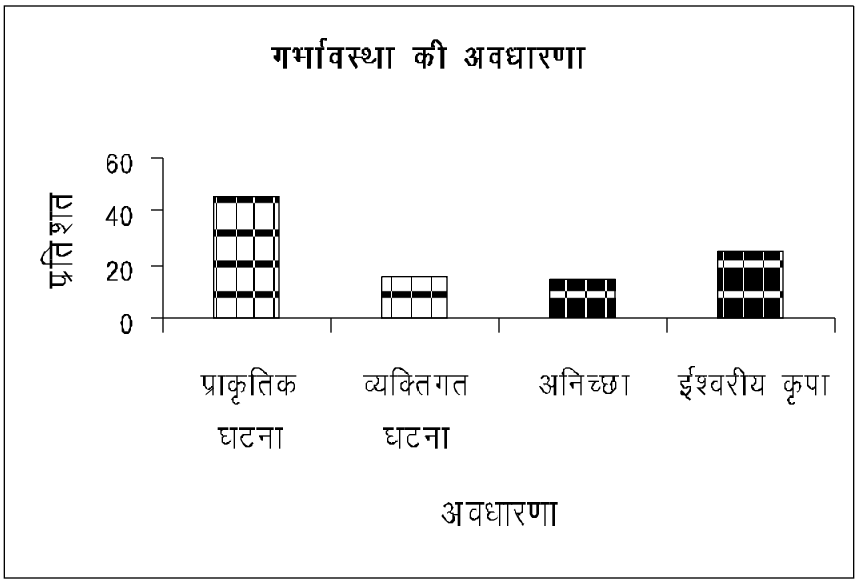

विश्लेषण -

उपरोक्त सारणी में बैगा जनजाति में फैली गर्भावस्था की अवधारणा से संबंधित तथ्यों को प्रदर्शित किया गया है। गर्भावस्था की अवधारणा में संकलित तथ्यों के आधार पर यह ज्ञात है कि प्राकृतिक घटना के रूप में मानने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 45.2 (226) प्रतिशत है। व्यक्तिगत इच्छा के रूप में मानने वाले बैगा उत्तरदाताओं की संख्या 15.4 (77) प्रतिशत तथा अनिच्छा के रूप में मानने वाले बैगा उत्तरदाताओं की संख्या 24.6 (123) प्रतिशत है।

स्पष्ट है कि बैगा जनजाति में गर्भधारण को अधिकांश उत्तरदाता प्राकृतिक घटना के रूप में तथा ईश्वरी कृपा के रूप में मानते हैं। यह इनके अंधविश्वास व अज्ञानता के कारण बनी हुई अवधारणा है।

2. शारीरिक एवं मानसिक क्रिया कलापों में परिवर्तन

बैगा जनजाति में गर्भधारण के बाद स्त्री के शारीरिक क्रिया कलापों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आता है। जानकारी के अनुसार शारीरिक कार्यों में केवल अधिकांशत: स्त्री को भार उठाने से संबंधित कार्य नहीं करने दिये जाते हैं। बैगा स्त्री गर्भावस्था के अंतिम चरण तक घर के व बाहरी कार्यों को करती रहती है।

सामाजिक क्रिया कलापों में बैगा स्त्री सम्मिलित हो सकती है। बैगा गर्भवती स्त्री को बैगा समाज में प्रचलित निषेधों का पालन करना पड़ता है। बैगा गर्भवती स्त्री घोड़े की रास को नहीं लांघ

सकती अन्यथा गर्भपात का खतरा रहता है। ग्रहण को देखने से गर्भस्थ शिशु पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

3. गर्भावस्था के दौरान भोजन संबंधी निषेध

बैगा गर्भवती स्त्री को भोजन के संबंध में भी निषेधों का पालन करना पड़ता है। बैगा स्त्री को गर्भावस्था के दौरान मद्यपान निषेध माना जाता है। मान्यता है कि गर्भावस्था में मद्यपान से गर्भस्थ शिशु को हानि पहुँचती है। गर्भपात होने की संभावनाओं के कारण भी गर्भवती स्त्री को मद्यपान निषेध होता है। मद्य के अलावा गर्म भोज्य पदार्थ को खाने से मना किया जाता है। गर्म भोजन में शहद, महुआ के फल, उरद दाल, मांस, मछली आदि बैगा गर्भवती स्त्री नहीं खा सकती है।

4. गर्भावस्था के दौरान देखभाल

गर्भावस्था के दौरान कोई विशेष देखभाल की रीति बैगा जनजाति में नहीं है। आधुनिक चिकित्सा पद्धति के इन क्षेत्रों में फैलने के कारण गर्भावस्था के द्वारा बैगा स्त्रियों को रक्त बढ़ाने के लिए लौह की गोलियाँ व फोलिक एसिड की गोलियाँ दी जाती हैं तथा गर्भावस्था के विभिन्न माहों में टिटनेस के टीके लगाये जाते हैं। ये सारी सेवाएँ प्रशिक्षित जन स्वास्थ्य रक्षकों और स्वास्थ्य केन्द्रों के द्वारा दी जाती हैं। बैगा गर्भवती महिला को स्वास्थ्य केन्द्रों में जाकर पंजीकरण कराना पड़ता है इससे उन्हें सभी सेवाएँ मुफ्त प्राप्त होती हैं तथा स्वास्थ्य से संबंधित जानकारियाँ भी प्रदान की जाती हैं। उसके वजन का रिकॉर्ड भी हर माह में किया जाता है। बैगा स्त्रियों में किये गये अध्ययन में उनके गर्भवती होने पर स्वास्थ्य केन्द्रों में जाने के प्रति जागरूकता पर तथ्यों को संकलित किया गया जो निम्न सारणी में है-

सारणी क्रमांक - 2

गर्भावस्था में डॉक्टरी जाँच/दवाओं के सेवन

क्रमांक	डॉक्टरी जाँच	उत्तरदाता संख्या	प्रतिशत
1.	हाँ	168	33.6
2.	नहीं	133	26.6
3.	कभी-कभी	77	15.4
4.	निरुत्तर	122	24.4
	योग	500	100

आरेख क्रमांक –2

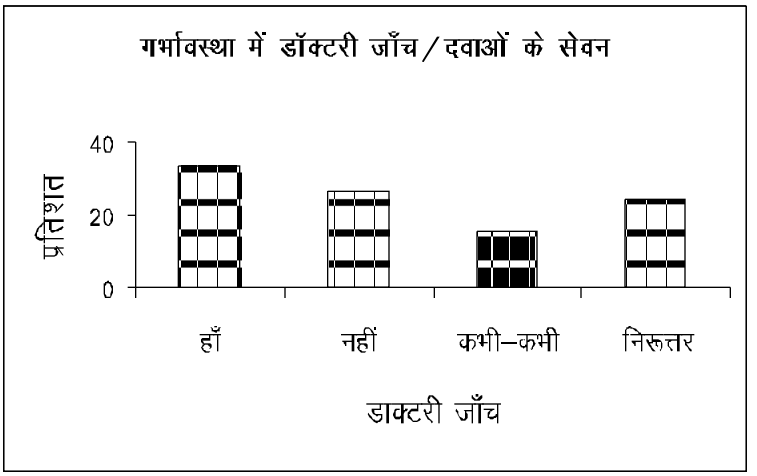

विश्लेषण –

प्रस्तुत सारणी में गर्भावस्था में डॉक्टरी जाँच/दवाओं के सेवन से संबंधित बैगा महिलाओं से तथ्यों का संकलन दर्शाया गया है। उत्तरदाताओं में से 168 उत्तरदाताओं ने डॉक्टरी जाँच/दवा का सेवन करना बताया है जिनका प्रतिशत 33.6 है। सेवन न करने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 133 तथा कुल प्रतिशत 26.6 है। कभी-कभी दवाओं और डॉक्टरी जाँच करने वाले बैगा उत्तरदाताओं की संख्या 77 तथा प्रतिशत 15.4 है। 122 उत्तरदाताओं ने किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की है।

सारणी क्रमांक – 3

गर्भावस्था में झाड़फूंक/जड़ी बूटी सेवन

क्रमांक	**झाड़फूँक/जड़ी बूटी सेवन**	**उत्तरदाता संख्या**	**प्रतिशत**
1.	हाँ	105	21.0
2.	नहीं	167	33.4
3.	कभी-कभी	147	29.4
4.	निरुत्तर	81	16.2
	योग	500	100

आरेख क्रमांक - 4

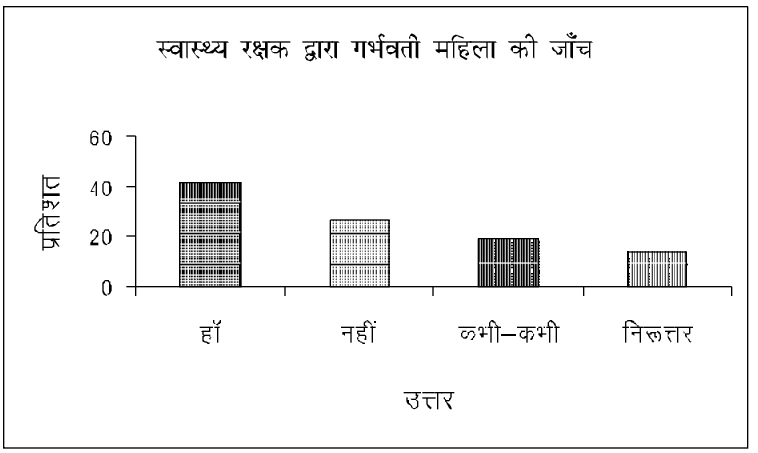

विश्लेषण -

स्वास्थ्य रक्षक, गर्भवती महिला की जाँच करने के लिए प्रत्येक ग्राम में सरकार द्वारा नियुक्त किये गये हैं। ये गर्भवती को स्वास्थ्य सुरक्षा संबंधित परामर्श देते हैं तथा दवाओं को भी वितरित करते हैं, जैसे- लौह तत्त्व की गोलियाँ, कैल्सियम की गोलियाँ आदि। इस आधार पर संकलित उपर्युक्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि 205 (41.0 प्रतिशत) उत्तरदाताओं का कहना है कि बैगा स्वास्थ्य रक्षक गर्भवती की जाँच करने के लिए आते हैं। 132 (26.4 प्रतिशत) उत्तरदाताओं का कहना है कि बैगा स्वास्थ्य रक्षक नहीं आते हैं। 95 उत्तरदाता कहते हैं कि स्वास्थ्य रक्षक कभी-कभी आते हैं और स्त्री की जाँच करते हैं जिनका कुल प्रतिशत 19.0 है। 13.6 प्रतिशत (68) उत्तरदाताओं ने किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की है।

उपर्युक्त तीनों सारणी व विश्लेषण से स्पष्ट है कि बैगा महिलाएँ किसी प्रकार की तकलीफ होने पर ही डॉक्टरी जाँच या झाड़फूंक/औषधि सेवन करती हैं। इनके क्षेत्रों में जन स्वास्थ्य रक्षक आकर दवाओं का वितरण व जाँच कभी-कभी करते हैं।

5. प्रसव की तैयारी

प्रसव के दौरान बैगा जिनकी आर्थिक स्थिति थोड़ी अच्छी होती है, अलग झोपड़ी का निर्माण करते हैं, जिसमें प्रसव कराया जाना है। इसमें गोबर से लिपाई की जाती है। प्रसव वेदना होने पर इसी झोपड़ी में बैगा गर्भवती महिला आ जाती है तथा सारी व्यवस्थाएँ कर दी जाती हैं। गरीब बैगा के घर में एक कमरा होने के कारण वह प्रसव के लिए उसी कमरे को गोबर से लीपकर साफ कर लेते हैं तथा वहीं प्रसव होता है। प्रसव के लिये स्थान से संबंधित जानकारी बैगा उत्तरदाताओं से ली गई, जिसे निम्न सारणी में दर्शाया गया है -

सारणी क्रमांक - 5

प्रसव का स्थान

क्रमांक	**प्रसव का स्थान**	**उत्तरदाता संख्या**	**प्रतिशत**
1.	घर	413	82.6
2.	बाहर	38	7.6
3.	अस्पताल	39	7.8
4.	घर/अस्पताल	10	2.0
	योग	500	100

आरेख क्रमांक - 5

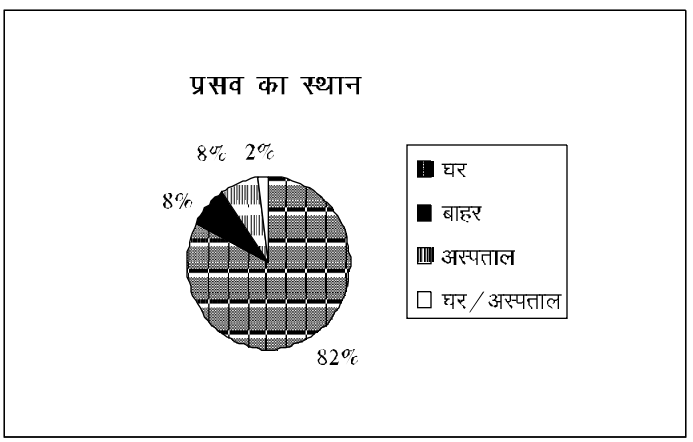

विश्लेषण

प्रसव के स्थान से संबंधित तथ्यों के संकलन से ज्ञात होता है कि बैगा जनजाति में अधिकांश प्रसव घर पर ही होते हैं। उत्तरदाताओं में घर पर होने वाले प्रसव में 413 उत्तरदाता संख्या है तथा इसका प्रतिशत 82.6 है। घर के बाहर प्रसव होने की स्थिति 38 उत्तरदाताओं ने बतलायी है, ग्राम में उपलब्ध स्वास्थ्य केन्द्र अस्पतालों में प्रसव करने की स्थिति 39 उत्तरदाताओं ने बतायी है। जिनके प्रसव घर और अस्पताल दोनों स्थानों पर हुए हैं उनकी उत्तरदाता संख्या 10 तथा प्रतिशत 2.00 है।

स्पष्ट है कि घर पर ही अधिक प्रसव कराये जाते हैं। अस्पताल में जाने की स्थिति केवल प्रसव में परेशानी उत्पन्न होने की स्थिति में ही बैगा जनजाति में आती है।

6. प्रसव कराने के लिए उपलब्ध व्यक्ति

प्रसव को आसानी से कराने के लिए अधिकतर जनजातियों में वरिष्ठ महिलाएँ गर्भवती की सहायता करती हैं। इसके लिए परम्परागत दाई को भी बुलाया जाता है, जो प्रसव कराने की जानकार होती है तथा प्रसव में आने वाली परेशानियों में गर्भवती की सहायता करती हैं। सुरक्षित प्रसव कराने के लिए इन परम्परागत दाईयों को प्रशिक्षण दिया जाता है ताकि वह अपने क्षेत्र में होने वाले प्रसव के समय साफ-सफाई और संक्रमण के प्रति सजग रहे और प्रसूति एवं शिशु की संक्रमणों से सुरक्षा हो सके। प्रसव में परेशानी उत्पन्न होने की स्थिति में प्रसव के लिए गर्भवती को चिकित्सालय भी ले जाया जाता है जहाँ डॉक्टर के द्वारा सुरक्षित प्रसव कराया जाता है।

सारणी क्रमांक - 6

बैगा जनजाति में प्रसव के लिए उपलब्ध व्यक्ति

क्रमांक	प्रसव कराने वाला व्यक्ति	उत्तरदाता संख्या	प्रतिशत
1.	परम्परागत दाई	170	34.0
2.	वृद्ध/स्थानीय महिला	195	39.0
3.	डॉक्टर	29	5.8
4.	प्रशिक्षित दाई	82	16.4
5.	वृद्ध महिला/दाई	24	4.8
	योग	500	100

आरेख क्रमांक - 6

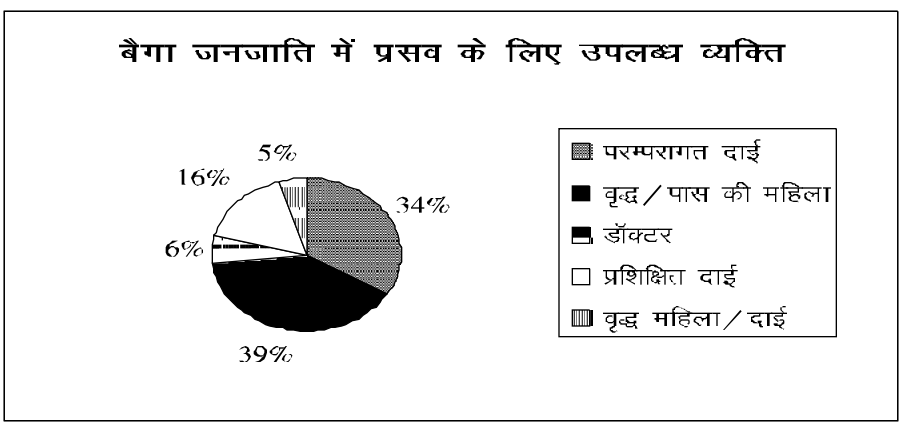

विश्लेषण -

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट है कि बैगा जनजाति में अधिकतर प्रसव परम्परागत दाई (उत्तरदाता प्रतिशत 34.0) और वृद्ध सयानिन महिला (उत्तरदाता प्रतिशत 39.0) के द्वारा करवाये जाते हैं। परेशानी होने पर ही डॉक्टर की महायता ली जाती है। प्रशिक्षित दाई के द्वारा भी प्रसव करवाने वाले उत्तरदाता की संख्या 82 (16.4 प्रतिशत) है। भविष्य में इसके बढ़ने की उम्मीद है क्योंकि सरकार बैगा जनजाति में परम्परागत रूप से दाई का कार्य करने वाली महिलाओं को ही प्रशिक्षण देकर प्रशिक्षित रूप में उस ग्राम के लिए नियुक्त करती है।

7. प्रसव की स्थिति

प्रसव की स्थिति में भी विभिन्न जनजातियों में अलग-अलग मान्यता है। प्रसव के लिए बैठकर प्रसव कराने को तथा पैरों को मोड़कर उखड़ू बैठकर प्रसव कराने की स्थिति अधिकांश जनजातियों में है। ऐसा माना जाता है कि इस स्थिति में प्रसव वेदना कम होती है तथा प्रसव भी शीघ्र व सरलता से होता है। बैगा जनजाति से ली गयी जानकारी में 376 (65.2 प्रतिशत) उत्तरदाताओं की संख्या बैठकर प्रसव कराने को अधिक उपयुक्त मानती है तथा 96 (19.2 प्रतिशत) उखड़ू बैठकर प्रसव कराने को उपयुक्त मानते हैं। ये दोनों ही स्थिति मिली-जुली है। अत: यह स्पष्ट है कि प्रसव की स्थिति में बैगा गर्भवती में उपरोक्त स्थिति अधिक अपनायी जाती है।

8. प्रसवोपरांत नाभि रज्जु (नाल) को अलग करना

जनजातियों में अपनी-अपनी परम्पराओं के अनुसार शिशु की नाभि रज्जु को अलग करने या काटने के लिए अलग-अलग वस्तु का उपयोग किया जाता है। मूरा जनजाति में तीर की नोक और ब्लेड से नाभि रज्जु को अलग करते हैं। भिरवा जनजाति में लड़का जन्म लेने पर उसकी नाभि रज्जु को तीर की नोंक से और लड़की जन्म लेने पर उसकी नाभि रज्जु को चाकू से अलग किया जाता है। बैगा में पहले की मान्यता व उपलब्ध साधनों में हंसिया प्रमुख था इसलिए पहले के प्रसव में नाभि रज्जु को अलग करने के लिए हंसिया प्रयोग में लाया जाता था।

सारणी क्रमांक- 7

नाभि रज्जु काटने के प्रयुक्त साधन

क्रमांक	प्रयुक्त साधन	उत्तरदाता संख्या	प्रतिशत
1.	ब्लेड	391	78.2
2.	हंसिया	34	6.8
3.	चाकू	75	15.0
	योग	500	100

आरेख क्रमांक - 7

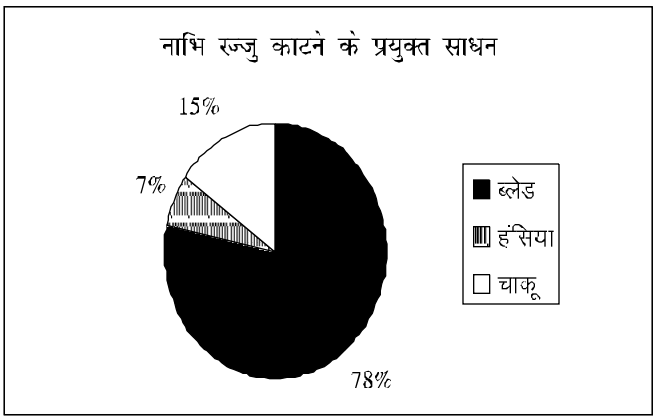

विश्लेषण -

उपर्युक्त सारणी से स्पष्ट है कि नाभि रज्जु काटने के लिए प्रयुक्त साधनों में बैगा जनजाति में अधिकांश तौर पर ब्लेड का प्रयोग किया जाता है। ब्लेड का प्रयोग करने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 391 (78.2 प्रतिशत) है। परम्परागत रूप से हंसिया का प्रयोग करने वाले उत्तरदाता 34 (6. 8 प्रतिशत) हैं तथा चाकू का प्रयोग करने वाले उत्तरदाताओं की संख्या 75 (15.00 प्रतिशत) है।

स्पष्ट है कि ब्लेड की उपलब्धता व काटने में सरलता होने के कारण अब अधिकांश प्रसवोपरांत नाभि रज्जु को अलग करने के लिए ब्लेड का ही उपयोग किया जाता है। हंसिया का उपयोग कम हो गया है। चाकू का प्रयोग ब्लेड न होने की स्थिति में ही किया जाता है।

9. प्रसवोपरांत कनेहरी

प्रसवोपरांत कनेहरी को अधिकांश जनजातियों में जला दिया जाता है क्योंकि ऐसी मान्यता है कि कनेहरी का उपयोग तंत्र-मंत्र में किया जाता है। कनेहरी को बैगा जनजाति में प्राप्त जानकारी के अनुसार प्रसवोपरांत प्रसव के स्थान पर गड्ढा खोदकर जला दिया जाता है तथा गड्ढे को बन्द कर दिया जाता है। कुछ लोग कनेहरी को गड्ढे में गाड़कर उसके ऊपर आग जला देते हैं।

10. प्रसवोपरांत शिशु की देखभाल

बैगा जनजाति में प्रसव के बाद शिशु को गर्म पानी से नहलाया जाता है तथा उसे सरसों का तेल लगाकर सूपे में सुलाया जाता है। जिस घर में लड़कियाँ ही लड़कियाँ जन्म लेती हैं, उस घर में जन्म के बाद शिशु को जिस सूपे में सुलाया जाता है उसमें सभी प्रकार के धान मिलाकर रख देते हैं। ऐसी मान्यता है कि इससे प्रसूता के गर्भ का नारा बदल जाता है और संभवत: अगली संतान

पुत्र के रूप में होती है। इसे 'बरीदना मिलान' कहते हैं।

सारणी क्रमांक- 8

प्रसवोपरांत शिशु की देखभाल

क्रमांक	पदार्थ	उत्तरदाता संख्या	प्रतिशत
1.	हल्दी	85	17.0
2.	हल्दी तेल	286	57.2
3.	खप्पर लेप	93	18.6
4.	औषधि	14	2.8
5.	कोयला/राख	22	4.4
	योग	500	100

आरेख क्रमांक - 8

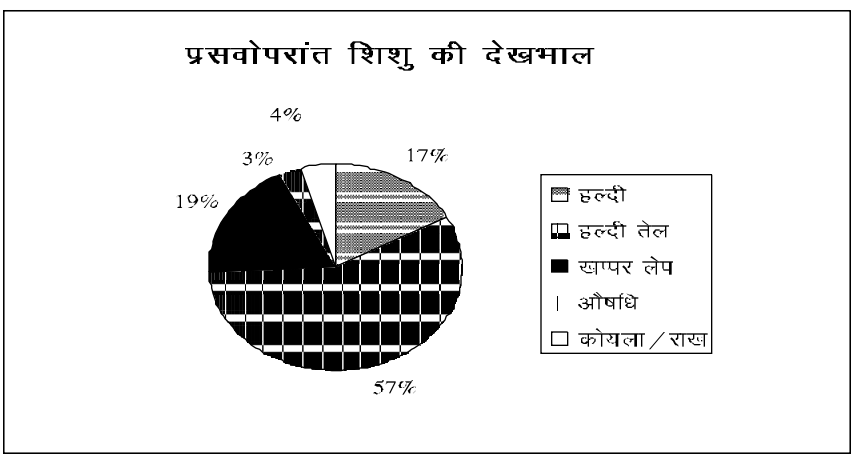

विश्लेषण -

नाभि रज्जु को काटने के बाद बैगा जनजाति में नाभि वाले स्थान पर अधिकतर (57.2 प्रतिशत) उत्तरदाता हल्दी, सरसों का तेल लगाते हैं। कुछ (18.6 प्रतिशत) बैगा जनजाति खप्पर को घिस कर और कोयले या कंडे की राख (4.4 प्रतिशत) को भी चुटकी भर लेकर नाभि रज्जु के स्थान पर लगाया जाता है। प्रशिक्षित दाई या चिकित्सकों में प्रसव करवाने पर नाभि रज्जु काटने के उपरांत औषधि लगाई जाती है।

स्पष्ट है कि अधिकांश बैगा अभी भी अज्ञानता के कारण पुरानी परम्पराओं से बंधे हैं जो शिशु में संक्रमण का कारण बनता है तथा अकाल मृत्यु भी हो सकती है।

11. प्रसूता की देखभाल

बैगा जनजाति में प्रसवोपरांत प्रसूता को गर्म पानी और औषधि, पौधों की छाल पानी में उबालकर नहलाया जाता है। वर्तमान में साबुन और गर्म पानी का उपयोग भी स्नान के लिए किया जाता है। खाने के लिए कमजोर प्रसूता को जड़ी-बूटी के कंद, कंदा, नारियल, गुड़ आदि दिया जाता है। भोज्य पदार्थों में एक दिन बाद मड़िया की रोटी, खिचड़ी, कोदो का भात, हल्दी, नमक, घी, उरद की दाल खाने के लिए दी जाती है। मुर्गा, मछली भी मांसाहार के रूप में खाने के लिए दिया जाता है।

प्रसूता को छठवें दिन बाद शुद्ध करके प्रसूति गृह की गोबर से लिपाई की जाती है तथा प्रसूता को नदी में स्नान करवाते हैं एवं अपने कपड़ों को वह स्वयं धोती है। इसके बाद वह घर व बाहर के सभी कार्य करने लगती है, परन्तु उसे रसोई घर का कोई कार्य नहीं करने दिया जाता है। ऐसी मान्यता है कि तीन महीने तक प्रसूता अशुद्ध रहती है। तीन महीने बाद फिर शुद्धिकरण करके प्रमूता को रसोई घर में कार्य करने को दिया जाता है।

12. शिशु के लिए माँ का पहला दूध

शिशु को माँ का पहला दूध जो पीले रंग का गाढ़ा होता है, दिये जाने की मान्यताएँ विभिन्न जनजातियों में अलग-अलग हैं। किसी जनजाति में शिशु को पहला दूध दिया जाता है, जैसे- भील जनजाति में प्रसव के 3 दिन बाद दिया जाता है। बैगा जनजाति में जानकारी के अनुसार पिछड़े वन क्षेत्रों में एक या दो दिन बाद पहला दूध शिशु को दिया जाता है। नगरों से लगे व अच्छी स्वास्थ्य जानकारी वाली महिलाएँ पहले दिन से ही प्रसूता के स्नान के बाद शिशु को माँ का पहला दूध दे देती हैं। उनके अनुसार यह शिशु में रोग प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाता है।

निष्कर्ष

शिशुओं के जन्म को बैगा जनजाति में एक प्राकृतिक घटना के रूप में (45.2 प्रतिशत) और ईश्वरीय कृपा (24.6 प्रतिशत) दृष्टि माना जाता है। इनमें गर्भवती स्त्री को शारीरिक कार्यों में केवल अधिकांशतः भार उठाने वाले कार्य नहीं करने दिये जाते हैं, इससे अलावा बैगा गर्भवती को सारे कार्य करने की अनुमति होती है, वह घर और बाहर के कार्य गर्भावस्था के अंत तक करती है। सामाजिक कार्यों में भी वह सम्मिलित होती है, परन्तु उसे सामाजिक मान्यताओं को व निषेधों को मानना होता है। गर्भावस्था में भोजन सामान्य ही दिया जाता है। मद्यपान और गर्म तासीर के भोजन नहीं दिये जाते

हैं। गर्भावस्था में विशेष देखभाल नहीं होती है। आधुनिक चिकित्सा व्यवस्था उपलब्ध होने से लौह तत्त्व की गोलियाँ व टिटनेस के टीके लगाये जाते हैं। इसके साथ ही स्वास्थ्य केन्द्रों में इनका रिकॉर्ड रखा जाता है। लेकिन अधिकांश गर्भवती डॉक्टरी जाँच/दवाओं (26.6 प्रतिशत) का सेवन नहीं करती हैं। अंधविश्वास के कारण इनका विश्वास परम्परागत जड़ी-बूटी व वैद्य में होता है।

स्वास्थ्य जन रक्षक ग्रामों में गर्भवती स्त्री की जाँच (41 प्रतिशत) करने आते हैं तथा जानकारियाँ प्रदान करते हैं। अधिकांश प्रसव (82.6 प्रतिशत) घर में ही होते हैं। स्थिति बिगड़ने पर ही बैगा अस्पतालों में प्रसव करवाने जाते हैं। ग्रामों में बैगा दाईयों को प्रशिक्षण दिये जाने से इनके द्वारा ही अधिक प्रसव (34 प्रतिशत) और (16.4 प्रतिशत) होते हैं तथा वृद्ध व सयानिन महिलाएं भी प्रसव कराया (39 प्रतिशत) करती हैं। प्रसव अधिकतर बैठकर या उखड़ू बैठकर कराया जाना जच्चा के लिए सुविधाजनक माना जाता है। नाभि रज्जु को भी ब्लेड से काटा जाता है, और नाभि पर हल्दी-तेल (57.2 प्रतिशत) खप्पर का लेप व कोयले की राख लगाते हैं। कनेहरी को परम्परानुसार प्रसव वाले स्थान पर ही गाड़कर उस पर उपलों को सुलगा देते हैं। प्रसूता को गर्म पानी व औषधि पौधों की छाल के गर्म पानी से नहलाया जाता है। उसे खाने के लिए जड़ी-बूटी, केबूक कंद, नारियल, गुड़ आदि दिया जाता है। मडिया, उरद की दाल, कोदो का भात और मुर्गी, मछली मांसाहार के रूप में दिया जाता है। प्रसूति से 6 दिन तक स्त्री कार्य नहीं करती है। 6 दिन बाद शुद्धिकरण प्रक्रिया होती है तब वह रसोई घर का कार्य छोड़ सारे घर का कार्य करती है। रसोई का कार्य तीन माह के उपरान्त शुद्धिकरण क्रिया के बाद करती है। शिशु को माँ का पहला पोषक दूध दिये जाने के प्रति भी इनमें अलग-अलग मान्यता है, कोई एक दिन बाद, कोई दो दिन बाद, जो क्षेत्र नगरों व स्वास्थ्य केन्द्रों से लगे हैं उनमें पहले ही दिन शिशु को माँ का दूध दिया जाता है।

संदर्भ ग्रन्थ

* अबदूसलम, एम. कफेरसटेन, एफ. (1996), 'फुड विलिवस् ऐण्ड टोवोस', वर्ल्ड हेल्थ, 49वाँ वर्ष, मार्च और अप्रैल।
* अब्बास, ए. (2000), 'सोशल-कल्चरल डिटरमिनेशन्स ऑफ मेटरनल ऐण्ड चाईल्ड हेल्थकेयर प्रैक्टिस अमंग द भारिया ऑफ पातालकोट वेली', पी-एच. डी. डिजरटेशन, रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय जबलपुर (अप्रकाशित)।
* एयाप्पन, ए. ऐण्ड महादेवन, के. (1998), 'पापुलेशन ऐण्ड सोशल चेन्ज इन इंडियन विलेजेज', मित्तल पब्लिकेशन्स दिल्ली।
* बारीथी, एस. (1991), 'ट्राइबल कल्चर इकोनॉमी ऐण्ड हेल्थ', रावत पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
* बागची, टी. (1994), न्यूट्रिशनल प्रोफाईल इन 'प्रोफाईल ऑफ सम इंडियन ट्राइब', एन एनथ्रोपोन्यूट्रिशनल माइक्रो स्टडी, (सम्पादक), बाय बागची टी ऐण्ड पब्लिस्ड बाय शंकर भट्टाचार्या, पूनही पुस्तक, कलकत्ता।
* बासु, एस. के. (1994), 'ट्राइबल हेल्थ इन इंडिया (एड)', मयंक पब्लिशर्स, नई दिल्ली।

* बैनर्जी, डी. (1982), 'पावरटी, क्लास ऐण्ड हेल्थ कल्चर इन इंडिया', वाल्यूम-1, प्राची प्रकाशन, नई दिल्ली।
* चौबे, कैलाश (2000), 'एनवायरमेंट ऐण्ड हेल्थ स्टेटस ऑफ प्रीमिटिव बैगा ट्राइब ऑफ बैगाचक, मध्यप्रदेश', ट्राइबल हेल्थ बुलेटिन, वाल्युम-6, आर.एम.आर.सी., जबलपुर।
* चौरसिया विजय (2004), 'प्रकृति पुत्र बैगा', मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल।
* एल्विन, वेरियर (1939), 'द बैगा', ऑक्सफोर्ड यूनिर्वसिटी, लंदन।
* गोपाल, के. रानी (1996), 'ट्राइबल ऐण्ड देअर हेल्थ स्टेटस', ए.पी.एच. पब्लिशिंग कारपोरेशन, नई दिल्ली।
* गुमास्ता, कृष्णा (1957), 'मण्डला के बैगा', मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल।
* हसन, के. ए. (1979), 'मेडिकल सोशियोलॉजी ऑफ रूरल एरियाज', सचिन पब्लिकेशन, अजमेर।
* कटारे, एस. एस. (1989), 'ट्राइबल फूड सिस्टम ऐण्ड न्यूट्रिएट इनटेक इन मण्डला डिस्ट्रिक्ट', ट्राइबल इकोनॉमी ऐण्ड मेलेन्यूटिशन इन इंडिया, एड. वाय. तिवारी, पी.जी. ऐण्ड शर्मा ए.एन., नार्दन बुक सेन्टर, नई दिल्ली।
* कुम्बले, एन.डी. (1984), 'रूरल हेल्थ', आशीष पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
* लोहानी, के.के. (1984), 'द बैगा ऑफ बैगाचक : अ ब्रीफ', ट्राइबल रिसर्च बुलेटिन, भोपाल, 1984।
* निरगुणे, बसन्त (1986), 'बैगा प्रकृति के सीधे साधे', मध्यप्रदेश संदेश पत्रिका।
* राजलक्ष्मी, पी. (1991), 'ट्राइबल फूड हेबिट्स', ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।
* श्रीवास्तव डॉ. लोकेश (2005), 'द बैगाज ऑफ नर्मदा वैली' श्री पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
* श्रीवास्तव डॉ. लोकेश, ऋतु रानी (2006), 'औषधीय पौधे', श्री पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
* तिवारी, एस.के. (1997), 'द बैगा ऑफ सेन्ट्रल इंडिया', अनमोल पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली।
* 'बैगा जनसंख्या जनगणना-1991', जिला-डिण्डौरी(म.प्र.), 'बैगा विकास परियोजना', जिला-डिण्डौरी (म.प्र.)।
* 'डिण्डौरी जिला जनगणना-2001'
* यूनीसेफ रिपोर्ट, 1991-92

कांग्रेस समाजवादी दल और जय प्रकाश नारायण

सुधाकर लाल श्रीवास्तव*

भारतीय समाजवाद के प्रतिष्ठाता श्री जय प्रकाश नारायण अपने विद्यार्थी जीवन से ही राष्ट्रीय कार्यक्रमों में सक्रिय थे, उनमें देश प्रेम, स्वतंत्रता, समानता और क्रान्ति की भावना कूट-कूट कर भरी थी। अध्ययन के लिए अमेरिकी प्रवास में वह मार्क्सवादी हो गये, और जीवन के अन्तिम दिनों में मार्क्सवाद का रास्ता छोड़कर सर्वोदयी गाँधीवादी हो गये थे। मार्क्सवाद से समाजवाद और समाजवाद से सर्वोदयी गाँधीवादी तक की लम्बी विचारयात्रा में कई महत्त्वपूर्ण मोड़ आये और जय प्रकाश नारायण ने अपने विचार परिवर्तन का आधार भी स्पष्ट किया। कांग्रेस के अन्तर्गत विकसित हो रहे समाजवादी दल के संगठन में उनका निर्णायक योगदान था किन्तु वास्तविक रूप से भारत में विकसित हो रहे समाजवादी भावना के वे जनक रहे हैं, समाजवाद को भारतीय सन्दर्भ में देखने और उसे व्यावहारिक रूप से उतारने का जो स्तुत्य प्रयास श्री नारायण ने किया उसकी महत्ता को नकारा नहीं जा सकता। राजनीतिक जीवन में प्रवेश काल से ही जय प्रकाश नारायण के मन में सामन्तशाही और पूँजीशाही की समाप्ति का संघर्ष चल रहा था, वे एक नये समाज की कल्पना करते रहे, जिसमें गरीब, शोषित मजदूर और पीड़ित वर्ग का उत्थान हो। उनका कहना था कि सामाजिक न्याय, निर्धन और निराश वर्ग को उठाकर ही किया जा सकता है।

मार्क्सवाद के अध्ययन ने जय प्रकाश नारायण को स्वातंत्र्य के वृहत् क्षेत्र में प्रविष्ट कराया था। इसी समय उन्होंने अनुभव किया कि केवल राजनीतिक स्वतंत्रता ही पर्याप्त नहीं है। अतः सब प्रकार के शोषण, भूख और निर्धनता से मुक्ति के लिए समाजवादी समाज की रचना की स्थापना का प्रयास किया क्योंकि एक श्रमिक, मैकेनिक, खेतिहर, रेस्टोरेन्ट पैकर, विक्रेता आदि के रूप में जय प्रकाश नारायण ने अमेरिका में मेहनतकश के यथार्थ जीवन में उतरकर सामाजिक विषमता का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर लिया था। अमेरिकी प्रवासकाल में जय प्रकाश नारायण समाजवादी दल के सदस्य थे और लॉ फालेट जैसे प्रगतिशील विचारकों से प्रभावित थे तथापि स्वदेश लौटने पर साम्यवादी लहर की उफान उन्हें कहीं और भटका नहीं सकी। जय प्रकाश नारायण की दृष्टि राष्ट्रीय आन्दोलन और राष्ट्र की समाजवादी माँग पर केन्द्रित रही और समाजवादी विचारों तथा गाँधीवादी नीतियों के प्रति

*प्रवक्ता, इतिहास विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

निष्ठा तथा त्याग के कारण लोकप्रिय हो गये। अमेरिका से साम्यवादी विचारधारा से अभिभूत होकर भारत आने पर भारतीय साम्यवादियों से बड़ी उम्मीद किये थे, इस दृष्टि से जय प्रकाश नारायण को गाँधी के नेतृत्व में क्रान्ति का अभाव दिखता था।[1]

जय प्रकाश के मानसतल पर वैज्ञानिक समाजवाद की भावना आन्दोलित हो रही थी, जिसमें तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य का भी व्यापक प्रभाव पड़ा। फलतः जय प्रकाश की दृष्टि में वैज्ञानिक समाजवाद ही आगे बढ़ने का एक मात्र मार्ग दिखा।[2] जय प्रकाश को एक तरफ कांग्रेस के कार्यक्रमों में समाजवादी तत्त्व का अभाव दृष्टिगोचर हो रहा था तो दूसरी ओर विश्वव्यापी आर्थिक मंदी, व्यापक बेरोजगारी तथा कारखानों की अनवरत तालाबन्दी भी चिन्ता का कारण था। नैराश्य एवं घनीभूत असन्तोष में गर्भित जय प्रकाश नारायण का समाजवादी विचार कांग्रेस के अन्दर भी पूर्व से चल रहा था और वामपन्थी विचारधारा का बीजरूप कांग्रेस के अन्तर्गत नेहरू और सुभाष के द्वारा अंकुरित किया जा चुका था। कांग्रेस के अन्तर्गत ये वामपन्थी, किसानों और मजदूरों के सीधी कार्यवाही के पोषक थे।[3]

सन् 1928 में कम्युनिष्ट इण्टरनेशनल की छठीं कांग्रेस में सभी राष्ट्रवादी और लोकतांत्रिक समाजवादियों को 'सोशल फासिस्ट' कहा गया उस समय कम्युनिष्ट होते हुए जय प्रकाश ने इसे मानने से इनकार कर दिया। उन्होंने महसूस किया कि कॉमिनटर्न पूरी दुनिया में मजदूर और समाजवादी आन्दोलनों में दरारें पैदा कर रहा था और इस कारण सभी गुलाम देशों में यह राष्ट्रीय आन्दोलनों से कटता जा रहा था। इस परिप्रेक्ष्य में उन्हें इस विचार से साम्य रखने वालों को एक समाजवादी मंच की आवश्यकता महसूस हुई।

उस समय समाजवादी विचारधारा में विश्वास रखने वाले अनेक चिन्तनशील लोग राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग ले रहे थे। 1931 में ही बिहार में एक समाजवादी पार्टी के गठन में रामवृक्ष बेनीपुरी, गंगा शरण सिंह, फूलन प्रसाद वर्मा, श्याम नन्दन सिंह, अब्दुल बारी एवं अब्दुल हयात आदि लोगों की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। इसी क्रम में जय प्रकाश नारायण बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय गये, जहाँ कुछ छात्रों ने एक समाजवादी गुट का गठन कर लिया था, जिसमें विश्वेश्वर प्रसाद कोइराला, देवकान्त बरुआ, महावीर प्रसाद सिन्हा तथा देवेन्द्र प्रताप सिंह शामिल थे। इस अवधि तक देश के कई भागों में समाजवादी संगठन आकार लेने लगा था।[4] 1933 में बनारस में कमलापति त्रिपाठी, त्रपद भट्टाचार्या और सम्पूर्णानन्द ने समाजवादी दल के लिए प्रयास किया था। इसी समय केरल और दिल्ली में भी इस तरह के दल का रूप देखने को मिलने लगा था।[5]

जय प्रकाश के मानसतल पर स्वभावतः एक छाप रेखांकित हो चुकी थी कि आजाद देश की राष्ट्रीयता पूँजीवादी प्रसार भले ही बन जाय परन्तु गुलाम देश की गष्ट्रीयता एक क्रान्तिकारी शक्ति होती है इस क्रान्तिकारी शक्ति से दूर रहकर समाजवाद एक कदम भी आगे नहीं बढ़ाया जा

सकता। हमारी कांग्रेसी शक्ति इसी क्रान्तिकारी शक्ति का संगठित रूप है अत: इस क्रान्तिकारी संस्था से सम्पर्क रखकर ही समाजवाद जनता के निकट पहुँच सकता है।[6] जय प्रकाश जेल में ही समाजवादी विचारकों के साथ नियमित क्लास भी लगाया करते थे, अन्तत: विचार-विमर्श के उपरान्त कुछ प्रमुख प्रश्न उभरकर सामने आये; जैसे- गाँधी के नेतृत्व के प्रति असन्तोष, सविनय अवज्ञा की असफलता, वर्ग विश्लेषण की पद्धति लागू करने की इच्छा, कृषक मजदूर से जुड़ जाने की आकांक्षा।[7]

जय प्रकाश के राजनीतिक जीवन का अभिध्येय सामाजिक न्याय की आधारशिला पर समाज की संरचना रहा है। वे सामाजिक न्याय के दोनों पक्षों स्वतंत्रता और समानता का अध्ययन किये। इस समय जय प्रकाश नारायण नासिक सेण्ट्रल जेल में बन्द थे। जय प्रकाश नारायण ने अपने अन्य साथियों एम.आर. मसानी, अच्युत पटवर्धन, अशोक मेहता, एम.जी. गोरे, एम.एन. जोशी तथा एम.एल. दांतेवाला के साथ जेल में ही मंथन शुरू कर दिया। जेल से मुक्त होने के बाद आचार्य नरेन्द्र देव, डॉ. राम मनोहर लोहिया, डॉ. सम्पूर्णानन्द, मेहर अली, पुरुषोत्तम, नाना साहब गोरे, गंगा शरण सिंह, नभकृष्ण चौधरी, फरीदुल अंसारी, दामोदर स्वरूप सिंह, कमला देवी चट्टोपाध्याय, के.के. मेनन, सुरेन्द्र नाथ द्विवेदी, मुंशी अहमद्दीन तथा शिवनाथ बनर्जी के साथ व्यापक मानवीय सत्य को तलाश कर भारतीय मध्यम वर्ग में पहली बार क्रान्तिकारी चेतना का उदय किया। यह चेतना सविनय अवज्ञा से आगे बढ़कर व्यापकता और गहराई में कार्य करने लगी, यहीं से भारतीय समाजवादी आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ। यद्यपि नेहरू ने इस प्रयास का स्वागत किया परन्तु सरस्यता से इनकार किया था।[8] अनेक विचार-विमर्श के बाद जय प्रकाश नारायण और नरेन्द्र देव आदि ने इसे कांग्रेस की शाखा के रूप में संगठित करने का निश्चय किया और कांग्रेस समाजवादी दल के नाम से इसे स्थापित किया।

कांग्रेस समाजवादियों का पहला सम्मेलन पटना के अन्जुमन इस्लामिया हॉल में आचार्य नरेन्द्र देव की अध्यक्षता में 17 मई 1934 को सम्पन्न हुआ। इम अधिवेशन के प्रतिनिधियों ने कांग्रेस समाजवादी पार्टी के लक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए अखिल भारतीय कांग्रेस के कार्यक्रम तथा संविधान का मसविदा तैयार करने हेतु एक समिति का गठन किया और जय प्रकाश नारायण को इसका महासचिव बनाया गया। जय प्रकाश नारायण पूरे उत्साह के साथ एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त का दौरा करते हुए कांग्रेस समाजवादी दल के संगठन के लिए स्तुत्य प्रयास किया।[9] उन्होंने समाज को यह समझाने का प्रयास किया कि मात्र स्वराज से जनता की समस्याओं का अन्त नहीं होगा जब तक कि आर्थिक संगठनों में मूलभूत परिवर्तन नहीं लाया जाता।[10]

कांग्रेस समाजवादी दल वामपन्थी बुर्जुआ वर्ग की पार्टी थी, उसके संस्थापकों में जय प्रकाश नारायण, नरेन्द्र देव तथा अशोक मेहता प्रमुख थे। यद्यपि इस अवधि तक देश के कई भागों में समाजवादी संगठन आकार लेने लगा था, परन्तु इसको देशव्यापी संगठन बनाने का प्रयास जय प्रकाश

नारायण ने ही किया था। जय प्रकाश नारायण का उद्देश्य उत्पादक समूह को समस्त अधिकार का हस्तान्तरण करना तथा देश के आर्थिक सामाजिक जीवन का विकास था। वे चाहते थे कि प्रमुख उद्योगों जैसे लौह, वस्त्र, जूट, रेल, खान, बैंक आदि का समाजीकरण हो तथा उत्पादन विनिमय एवं वितरण हेतु सहकारी समितियों का संगठन हो और उनको प्रोत्साहन मिले। विदेशी व्यापार पर राज्य का एकाधिकार हो, राजाओं और जमींदारों का अन्त, किसानों की भूमि का पुनर्विभाजन, वयस्क मताधिकार का व्यावसायिक आधार पर प्रयोग, राष्ट्रीय आय की आवश्यकता के अनुसार वितरण राज्य द्वारा सहयोगमूलक और सहकारी खेती के लिए प्रोत्साहन आदि उनका उद्देश्य था। जय प्रकाश नारायण ने कांग्रेस समाजवादी पार्टी की स्थापना के समय ही उद्देश्यों को स्पष्ट कर दिया था कि वे कांग्रेस के समक्ष एक कार्यक्रम प्रस्तुत करने जा रहे हैं यदि कांग्रेस ने इसे स्वीकार नहीं भी किया तो भी हम कांग्रेस से बाहर नहीं जायेंगे।[11] अत: स्पष्ट है कि जय प्रकाश नारायण कांग्रेस से अलग कोई संगठन बनाने का विचार नहीं रखते थे। जय प्रकाश नारायण ने लाहौर पार्टी के अधिवेशन में पहली बार कांग्रेस का तिरंगा और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का लाल झण्डा एक साथ फहराया। जय प्रकाश नारायण ने बताया कि दोनों झण्डों में कोई फर्क नहीं है, दोनों का लक्ष्य एक ही है, एक के नीचे हम आजादी की लड़ाई लड़ रहे हैं और दूसरे के नीचे 'समाजवादी समाज' की स्थापना के लिए प्रयासरत हैं।

जय प्रकाश नारायण कांग्रेस समाजवादी पार्टी के सर्वदा प्रमुख स्तम्भ बनेर रहे। जय प्रकाश ने 'कांग्रेस सोशलिस्ट' साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन और संचालन किया।[12] इसके अतिरिक्त जे.पी. ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शास्त्र के स्तर की लगभग 500 पुस्तकों की तालिका बनायी। इन पुस्तकों में मुख्यत: मार्क्सवाद मजदूर संगठन क्रान्तिदर्शन, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र की महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का अध्ययन करने का आग्रह किया। इस सन्दर्भ में सुभाषचन्द्र बोस को पत्र लिखे जिसमें उन्होंने सोशलिस्ट बुक क्लब की चर्चा की और सुभाषचन्द्र बोस से इसके संस्थापक और सलाहकार समिति के सदस्य बनाने का प्रयास भी किये।

जय प्रकाश नारायण के प्रयास से कांग्रेस समाजवादी दल के द्वितीय सम्मेलन के समय तक लगभग सभी प्रान्तों में कांग्रेस समाजवादी दल का संगठन स्थापित हो चुका था। सन् 1935 में जय प्रकाश नारायण ने समाजवादी पक्ष का घोषणा-पत्र प्रकाशित किया 'समाजवाद क्यों?' यह समस्त विषमता तथा सामाजिक अन्याय का ऐतिहासिक विरोध पत्र था। इसमें चार महत्त्वपूर्ण निबन्ध थे; जैसे- समाजवाद का आधार, कांग्रेस समाजवादी पार्टी क्या है, विकल्प, उपाय तरीके।[13] कांग्रेस समाजवादी पार्टी के तीसरे अधिवेशन फैजपुर 1936 में जय प्रकाश नागयण ने ही नेतृत्व किया और वे ही इसके नीति रीति के प्रमुख संचालक रहे।

महात्मा गाँधी भी जय प्रकाश नारायण के सामाजिक, आर्थिक कार्यक्रमों की महत्ता को

स्वीकारने लगे थे। फलतः 1939 में त्रिपुरा कांग्रेस के आते-आते समाजवादी भी गाँधी के नेतृत्व में स्वतंत्रता आन्दोलन को स्वीकार करने के लिए तत्पर हो चले थे। गाँधीवादियों ने भी जय प्रकाश द्वारा प्रस्तुत समाजवादियों के राष्ट्रीय माँग पत्र का समर्थन किया।[14] समाजवादियों के राष्ट्रीय माँग पत्र के द्वारा यह प्रस्ताव रखा गया कि बिना किसी पूर्व चेतावनी कांग्रेस को ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध जोरदार असहयोग आन्दोलन चलाना चाहिए।[15] उन्होंने बताया कि कांग्रेस के अन्दर इस दृष्टि से कार्य करना कि उसे एक सच्चा साम्राज्यविरोधी मोर्चा बनाया जा सके तथा किसान संगठनों, मजदूर संघों का संगठन और उनकी आर्थिक-राजनीतिक लड़ाइयों को तीव्र करने और उसमें हिस्सा लेने और जनता के युवक संघ, महिला संघ, स्वयंसेवक संघ आदि को जागरूक करना था। सभी साम्राज्यवादी मुद्दों का सक्रिय विरोध और राष्ट्रीय संग्राम को मजबूत बनाने के लिए उपयोग करना, अंग्रेजी सरकार के साथ किसी भी मंजिल पर विधान सम्बन्धी समस्या पर समझौता करने में शामिल होने से इनकार करना। अनुशासन का पालन करते हुए रचनात्मक कार्यक्रम को पूरा करने में भाग लेना था।

द्वितीय विश्वयुद्ध को जय प्रकाश ने साम्राज्यवादी युद्ध बताया और सी.एस.पी. की तरफ से इनका विरोध करने को कहा, इसी क्रम में 1940 में जमशेदपुर में एक अवैध भाषण के आरोप में उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। इस घटना पर महात्मा गाँधी काफी दुःखी हुए और उन्होंने कहा "जय प्रकाश नारायण साधारण कार्यकर्ता नहीं हैं, वे समाजवाद के विशेषज्ञ हैं और पाश्चात्य समाजवाद पर जो कुछ जय प्रकाश नहीं जानते उसे भारत में कोई नहीं जानता।"[17]

जेल में भी जय प्रकाश अपने विचारों को लिपिबद्ध करने का कार्य करते रहे तथा जेल से बाहर भी भेजते थे, जिसे सर्चलाइट, नेशनल हेराल्ड तथा बाम्बे क्रानिकल जैसे दैनिक पत्रों में छापा जाता था, ऐसे लेख 'ए कांग्रेस सोशलिस्ट' के नाम से प्रकाशित होते थे। जेल में जय प्रकाश ने 'एन आउटलाइन पिक्चर ऑफ स्वराज' लिखा तथा गाँधी जी और कांग्रेस के रामगढ़ सत्र के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए भेजा, जो जय प्रकाश के विचारानुसार 'जनतांत्रिक समाजवाद' की तस्वीर प्रस्तुत करता है।[17] जय प्रकाश नारायण के इस प्रस्ताव पर रामगढ़ कांग्रेस के सामने युद्ध की समस्या ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विचारणीय मुद्दा था। रामगढ़ कांग्रेस के समक्ष प्रस्तुत जे.पी. के प्रस्ताव की गाँधी ने सराहना करते हुए 'हरिजन' में प्रकाशित किया।[18]

कांग्रेस समाजवादियों का असंतोष और निराशा तब और अधिक स्पष्ट हुआ जब जुलाई 1941 में जय प्रकाश के कुछ पत्र पकड़े गये जो अपनी पत्नी के माध्यम से जेल के बाहर भेज रहे थे, ये कागजात पुरुषोत्तम ट्रीकमदास को पहुँचाना था जिसमें पार्टी के पुनर्संगठन और मजबूतीकरण के लिए आतंकवादी संगठनों जैसे रिवोल्युशनरी सोशलिस्ट पार्टी, हिन्दुस्तान रिपब्लिकन सोशलिस्ट एसोसिएशन आदि को अपने में शामिल करने की बात कही गयी थी यद्यपि गाँधी जी ने सभी गोपनीय तथा हिंसात्मक कृत्यों की निन्दा की किन्तु आशा से परे उन्होंने जे.पी. का बचाव भी

किया।[19]

भारत छोड़ो आन्दोलन के क्रम में जय प्रकाश ने अपने समाजवादी साथियों के साथ उग्र रूप से प्रशासन को पंगु बनाने का कार्यक्रम चलाया। इस अवधि में नेपाल में गुप्त रूप से गुरिल्ला युद्ध का कार्यक्रम चलाया और नेपाल में ही मुख्यालय बनाया किन्तु दुर्भाग्यवश वे गिरफ्तार कर लिये गये और लाहौर के लिए भेज दिये गये वहाँ से जनवरी 1945 में आगरा जेल भेजा गया जहाँ 1946 तक रखा गया। 11 अप्रैल 1946 को जेल से मुक्त होने पर जय प्रकाश लोकप्रियता की दृष्टि से जवाहर लाल नेहरू के सामने दूसरे नम्बर पर थे। युवा छात्रों में तो वे नेहरू से भी आगे थे, इस समय जय प्रकाश का भव्य स्वागत हुआ परन्तु यह स्वागत उन्हें आह्लादित नहीं कर सका क्योंकि कांग्रेस की नीतियों के प्रति जो भय और सन्देह फैलता जा रहा था उससे जय प्रकाश चिन्तित थे तथा कांग्रेस के द्वारा जो संवैधानिक और संसदीय नीतियाँ अपनायी जा रही थीं उससे उनके मन में क्षोभ था। जय प्रकाश ने इस परिस्थिति में कैबिनेट मिशन द्वारा प्रस्तावित संविधान सभा में भाग लेने से भी इनकार कर दिया तथा कांग्रेस समाजवादी दल के सदस्यों को इनके लिए चुनाव लड़ने से रोक दिया क्योंकि जय प्रकाश के सामने अहम प्रश्न था कि देश में जो राष्ट्रीयता की जागृति आयी थी उसका उपयोग किस तरह किया जाय। जय प्रकाश नारायण और कांग्रेस के बीच दूरियाँ बढ़ती गयीं क्योंकि कांग्रेस और लीग अपने को एक राजनीतिक दल का रूप देने लगे थे। जय प्रकाश को कांग्रेस से अपने दल को मुक्त करने के सिवाय और कोई मार्ग नहीं दिख रहा था। कांग्रेस समाजवादी दल ने अपने प्रतिनिधियों को संविधान सभा से वापस बुला लिया। इसी क्रम में मार्च 1948 में सी.एस.पी. के नासिक सम्मेलन को समाजवादी क्रान्ति का एक विज्ञान स्वीकार करते हुए रचनात्मक कार्यों में विश्वास, नैतिक मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता एवं राजनीति के शुद्ध मार्ग के अनुसरण की महत्ता पर बल दिया।[20]

जय प्रकाश नारायण कांग्रेस भारतीय समाजवादी आन्दोलन दल के लिए नींव की ईंट थे, वे भारत में सामाजिक संरचना की दृष्टि से क्रान्तिकारी कार्यक्रमों से विमुख नहीं होना चाहते थे। उनका अभिप्राय सत्ता का अधिग्रहण नहीं बल्कि जन आन्दोलन द्वारा समाजवादी भारत का निर्माण करना तथा मानवीय मूल्यों की प्रतिस्थापना करना था। इन्हीं लक्ष्यों से अभिभूत आगे चलकर श्री नारायण ने सोखोदेवरा गाँव में 'सर्वोदय आश्रम' की स्थापना भी की थी जिसमें स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व को बढ़ावा मिला। इसके बाद भूमिदान, ग्रामदान, सम्पत्तिदान, और फिर जीवनदान के माध्यम से आर्थिक-सामाजिक रूप से राष्ट्र को सुदृढ़ करने का प्रयास किया।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. चितरंजन, सी.एन. - एसोसिंग जे.पी. : 'मेनस्ट्रीम', अक्टूबर 20, 1979, पृ. 71
2. नारायण, जय प्रकाश - ह्वाई सोशलिज्म : बनारस ऑल इण्डिया कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी, 1936

3. दी इण्डियन ऐनुअल रजिस्टर भाग 11, पृ. 36
4. सम्पूर्णानन्द – मेमोरिज ऐण्ड रिफ्लेक्शन : एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1962, पृ. 72
5. देव, आचार्य नरेन्द्र – सोशलिज्म ऐण्ड नेशनल रिवॉल्युशन : पद्मा पब्लिकेशन, वाम्बे, 1946, पृ. 25
6. रामवृक्ष बेनीपुरी – जय प्रकाश नारायण, पृ. 91
7. शास्त्री, प्रकाश – भारत में समाजवादी आन्दोलन, पृ. 32
8. सम्पूर्णानन्द – मेमोरीज ऐण्ड रिफ्लेक्शन, पृ. 72
9. शास्त्री, प्रकाश – पूर्वोक्त
10. इण्डियन ऐनुअल रजिस्टर भाग 1, 1934, पृ. 340
11. होम डिपार्टमेण्ट पॉलिटिकल फाइल नं. 36/3/1934, पृ. 16
12. शंकर, गिरिजा – सोशलिस्ट एक्सपेरिमेण्ट इन इण्डिया ऐण्ड जय प्रकाश नारायण 1929–48 दी क्वार्टरली रिव्यू ऑफ हिस्टॉरिकल स्टडीज भाग–17, नं. 2, 1977–78, पृ. 83–84
13. नारायण, जय प्रकाश – ह्वाई सोशलिज्म : बनारस ऑल इण्डिया कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी, 1936
14. शंकर, गिरिजा – पूर्वोक्त, पृ. 85
15. बोस, सुभाष चन्द्र – "ब्रिटिश साम्राज्यवादिता के विरुद्ध जोरदार असहयोग चलाने के पूर्व छः माह पूर्व चेतावनी दिया जाना चाहिए", देखें– हिस्ट्री ऑफ इण्डियन मूवमेण्ट
16. हरिजन, भाग–3, नं.–5, मार्च 16, 1940, पूना, पृ. 48
17. जय प्रकाश नारायण – सोशियोलिज्म, सर्वोदय ऐण्ड डेमोक्रेसी, पृ. 161
18. हरिजन, 20 अप्रैल 1940
19. शंकर, गिरिजा – पूर्वोक्त, पृ. 87
20. सोशलिस्ट पार्टी ऑफ इण्डिया, रिपोर्ट ऑफ दी सिक्स्थ ऐनुअल कान्फ्रेन्स 1948, पृ. 48–103

ऊर्जा संकट एवं इसके संरक्षण के क्षेत्र में परिवार की जानकारी एवं जागरूकता का अध्ययन (गोरखपुर नगर क्षेत्र के संदर्भ में)

नमितेश गुप्ता* एवं उमा जोशी**

किसी भी देश में व्यक्तियों के उच्च जीवन स्तर तथा आर्थिक विकास में ऊर्जा संसाधनों का मुख्य योगदान है। ऊर्जा उत्पादन एवं उपभोग दोनों ही किसी राष्ट्र की प्रगति के सूचक हैं। वर्तमान समय में ऊर्जा की बढ़ती मांग की अपूर्ण आपूर्ति विश्व पटल पर एक महत्त्वपूर्ण समस्या बनकर उभर रही है। सिविल सर्विसेज क्रॉनिकल (अगस्त 2009) में ऊर्जा संकट पर प्रकाशित एक लेख के अनुसार- "सन् 1960 के पश्चात् से कोयला, पेट्रोलियम, प्राकृतिक गैस, आण्विक खनिज जैसे समापनीय ऊर्जा स्रोतों का उपयोग एवं मांग बहुत बढ़ गई है। आगामी 20-25 वर्षों में विश्व की ऊर्जा खपत और मांग में उत्तरोत्तर अभिवृद्धि से शक्ति संसाधनों के दोहन में भी दिनानुदिन अभिवृद्धि हो रही है। फलतः ऊर्जा के प्रधान स्रोतों यथा- कोयला, खनिज तेल, प्राकृतिक गैस तथा आण्विक खनिजों का भंडार घटता जा रहा है।"

मानव विकास के मूल आधार ऊर्जा की बढ़ती मांग को मात्र अनवीकरणीय ऊर्जा स्रोतों जैसे- बायोमॉस एवं अपशिष्ट, खनिज तेल, कोयला, प्राकृतिक गैस एवं परमाणु ऊर्जा पर निर्भर रह कर वैकल्पिक ऊर्जा के बिना पूर्ण नहीं किया जा सकता है। यद्यपि आज वैज्ञानिकों ने ऊर्जा बचत करने वाली अनेक तकनीकियों एवं गैर परम्परागत ऊर्जा से संचालित अनेक व्यावसायिक तथा घरेलू तकनीकी एवं उपकरण विकसित कर लिये हैं जो परम्परागत ऊर्जा स्रोतों की बचत करने के साथ-साथ पर्यावरण मित्र भी हैं परन्तु व्यावहारिक स्तर पर सामान्य जन द्वारा इसके स्वैच्छिक प्रयोग एवं जागरूकता के प्रति उदासीनता व्याप्त है। सामान्य नागरिक ऊर्जा संरक्षण एवं नवीकरणीय ऊर्जा के प्रति क्यों उदासीन हैं? इसका क्या कारण है? ऊर्जा संकट एवं इसकी रोकथाम के प्रति सामान्यजन कितने जागरूक हैं? इन्ही तथ्यों को ध्यान में रखकर 'ऊर्जा संकट एवं इसके संरक्षण के क्षेत्र में परिवार की जानकारी एवं जागरूकता का अध्ययन' (गोरखपुर नगर क्षेत्र के संदर्भ में) विषय का चयन किया गया। जिसके लिये तीन उद्देश्य निर्धारित किये गये- ऊर्जा संकट के क्षेत्र में परिवार की जानकारी एवं जागरूकता का अध्ययन, ऊर्जा संसाधन स्रोतों को प्राथमिकता देने में परिवारों की अभिरुचि का अध्ययन एवं ऊर्जा संरक्षण के क्षेत्र में परिवार की जानकारी एवं जागरूकता का

*प्रवक्ता-गृहविज्ञान सी.आर.डी.एम.पी.जी. कॉलेज, गोरखपुर

**रीडर-गृहविज्ञान वी.एम.एल.जी.पी.जी. कॉलेज, गाजियाबाद (उ.प्र.)

अध्ययन।

शोधकार्य की पूर्णता हेतु आकस्मिक प्रतिचयन विधि द्वारा जिला गोरखपुर के हुमायूँपुर, आर्यनगर, बशारतपुर एवं बेतियाहाता क्षेत्रों से 100 परिवारों का चयन किया गया जिसके आधार पर समग्र रूप मे यह परिणाम प्राप्त हुआ कि - परिवारों को ऊर्जा संकट है ये तो ज्ञात है परन्तु ऊर्जा उत्पादन दर, आपूर्ति व्यवस्था, पेट्रोल व कोयले के भंडार, विद्युत दर का स्पष्ट ज्ञान नहीं है। वे मात्र इतना जानते हैं कि ये कम है तथा वे अपूर्ण आपूर्ति का कारण प्रशासन तन्त्र की कमी, चोर बाजारी एवं कम उत्पादन को मानते हैं। अधिकांश परिवार ऊर्जा स्रोत के रूप में अनवीकरणीय ऊर्जा स्रोतों को ही जानते है जबकि अनवीकरणीय ऊर्जा स्रोतों के विषय में इनका ज्ञान सीमित है। सभी परिवार पेट्रोल, विद्युत, एल.पी.जी., लकड़ी, मिट्टी का तेल एवं डीजल जैसे अनवीकरणीय ऊर्जा स्रोतों के प्रयोग को प्राथमिकता देते हैं। वे बायोगैस प्लॉन्ट के महत्त्व को तो स्वीकार करते हैं परन्तु मानव मल आधारित बायोगैस प्लान्ट को घृणा के कारण स्वीकार नहीं कर पाते हैं। वे महंगा होने के कारण एल.पी.जी., विद्युत एवं पेट्रोल की बचत तो करते हैं किन्तु ऊर्जा की बचत करने वाले एवं नवीकरणीय ऊर्जा स्रोतों द्वारा संचालित वाहन एवं उपकरणों को कम कुशल होने के कारण कम महत्त्व देते हैं। अधिकांश परिवार ऊर्जा स्रोतों के संरक्षण को प्रोत्साहित करते हैं तथा वे चाहते हैं कि ऊर्जा संरक्षण हेतु नवीन स्रोतों की खोज जागरूकता फैलाने के लिये प्रोत्साहन हेतु प्रशासन इस ओर विशेष ध्यान दे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मध्यम वर्गीय परिवारों में ऊर्जा संकट के प्रति विशेष जागरूकता नहीं है तथा वे परम्परागत ऊर्जा स्रोतों पर ही विशेष रूप से निर्भर हैं। ऊर्जा संकट की स्थिति का ज्ञान तो है परन्तु वास्तविक स्थिति एवं कारणों से अनभिज्ञ हैं। वे ऊर्जा संरक्षण हेतु स्वयोगदान को बहुत महत्त्व नहीं देते हैं एवं ऊर्जा संरक्षण हेतु प्रशासनिक प्रयासों को आवश्यक मानते हैं।

स्पष्ट है कि मात्र अनवीनीकृत ऊर्जा स्रोतों पर निर्भर रहकर दीर्घकाल तक काम नहीं चलाया जा सकता है। यू.एस. एनर्जी इन्फॉरमेशन ऐडमिनिस्ट्रेशन (मार्च 18, 2013) में प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार- "सन् 2011 में भारत संयुक्त राष्ट्र, चीन एवं रूस के पश्चात् ऊर्जा खपत के स्तर में चौथे स्थान पर है। आर्थिक विकास में वृद्धि के साथ-साथ सन् 2000 से इसमें लगभग 7 प्रतिशत की दर से वृद्धि हो रही है। सन् 1990 से 2011 में भारत की प्राथमिक ऊर्जा खपत दर में दोगुनी से भी अधिक वृद्धि हुई है।" इस रिपोर्ट से स्पष्ट है कि आज ऊर्जा की मांग में अत्यधिक वृद्धि हो रही है।

इन्डिपेन्डेन्ट स्टेटिस्टिक्स ऐण्ड एनालिसिस (ई.आई.ए.) की सन् 2012 रिपोर्ट के अनुसार "जनसंख्या का औसतन लगभग 25 प्रतिशत भाग विद्युत ऊर्जा संकट का सामना कर रहा है तथा इसकी आपूर्ति हेतु कोयले के द्वारा विद्युत आपूर्ति की जाती है।" ऊर्जा की बढ़ती मांग के साथ-साथ

अनवीनीकृत ऊर्जा स्रोतों पर निर्भरता बढ़ी है। आज देश का प्रत्येक नागरिक ईंधन के बढ़ते मूल्य से त्रस्त है। ई.आई.ए. (2011) भारत में ऊर्जा खपत की रिपोर्ट के अनुसार- भारत में कुल ऊर्जा खपत का 95 प्रतिशत भाग बायोमॉस एवं अपशिष्ट, खनिज तेल, कोयला एवं प्राकृतिक गैस जैसे अनवीनीकृत ऊर्जा स्रोतों पर निर्भर है जबकि मात्र 5 प्रतिशत भाग आण्विक ऊर्जा एवं नवीनीकृत ऊर्जा स्रोतों से पूर्ण किया जाता है।

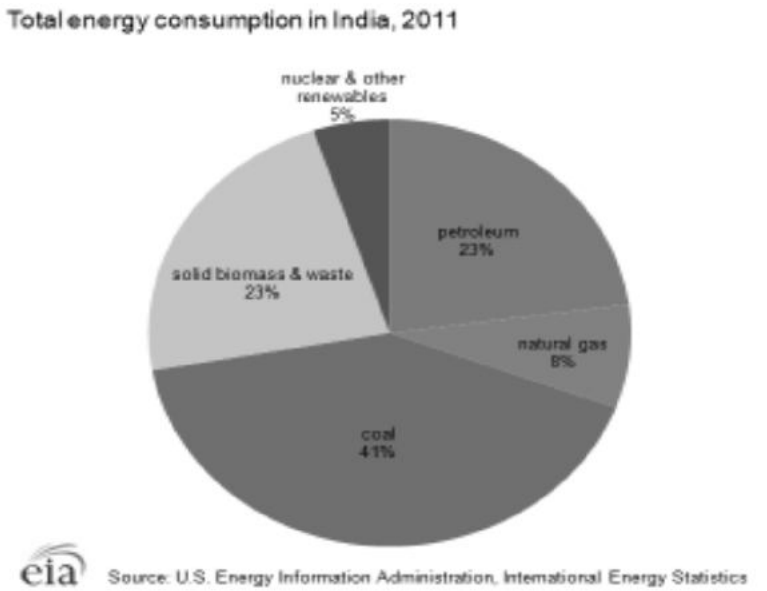

ऊर्जा की सर्वाधिक मांग उद्योगों में होती है, उसके बाद परिवहन का क्रम आता है, परन्तु पिछले कुछ वर्षों में ऊर्जा की कुल खपत में उद्योगों एवं परिवहन के क्षेत्रों का अंश कम हुआ है और घरेलू, व्यावसायिक, लोकसेवा क्षेत्र तथा अन्य क्षेत्रों में ऊर्जा की खपत बढ़ी है। पारिख एस. किरीट के द्वारा लगाये गये एक अनुमान के अनुसार- "भारत की 2031-32 की संभावित ऊर्जा मांग को अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट होगा कि 2007-08 में चीन की ऊर्जा खपत 1100-1200 म्टो (तेल के समान लाख टन) थी जबकि अमेरिका की ऊर्जा खपत 2400-2500 म्टो थी, इसकी तुलना में जबकि भारत की व्यापारिक ऊर्जा की खपत 421 म्टो थी। अगर भारत की 2031-32 में सम्भावित खपत 1.47 अरब मानी जाये, तब भारत की प्रतिव्यक्ति ऊर्जा खपत चीन की 2008 की खपत से थोड़ी अधिाक होगी। 2031-32 में ऊर्जा उपभोग का अनुमान पारिख एस. किरीट की इस तालिका से और भी स्पष्ट हो सकता है-

प्रारम्भिक ऊर्जा खपत संतुलन

(9 प्रतिशत सघड़ वृद्धि पर आधारित अनुमान)

ऊर्जा का प्रकार	यूनिट	2007-08 मूल यूनिट	वास्तविक म्टो	2031-32 परिदृश्य (क)म्टो	सम्भावनाएं पारिदृश्य (ख)म्टो
कोयला	मिट	501.52	215.48	914	260
लिग्नाइट	मिट	34.65	9.71	-	-
तेल	मिट	139.73	139.73	555	397
प्राकृतिक गैस	बी.सी.एम.	32.27	29.07	-235	191
एल0एन0जी0	मिट	8.24	10.21	-	-
परमाणु ऊर्जा	मिकिवा	16777	4.38	98	98
पन बिजली	मिकिवा	128702	11.07	35	35
नवीकरणीय ऊर्जा	मिकिवा	11410	0.98	2	87
प्रारम्भिक व्यापारिक ऊर्जा	म्टो	-	420.62	1839	1668
गैर-व्यापारिक ऊर्जा	म्टो	-	149.50	185	185
कुल प्रारम्भिक ऊर्जा आपूर्ति	म्टो	-	570.12	2024	1853

परिदृश्य (क)- सम्पूर्ण पनबिजली एवं परमाणु संभावित क्षमता का विकास, प्राकृतिक गैस का अधिकतम उपयोग तथा ऊर्जा कुशलता एवं मांग पक्ष प्रबन्ध द्वारा खपत में कटौती।

परिदृश्य (ख)- नवीकरणीय ऊर्जा स्रोत के विकास पर जोर, हर तरह के परिवहन के लिये ऊर्जा कुशल इंजनों का विकास तथा साथ ही परिदृश्य (क) के सभी उपाय हैं।

मानव विकास के मूल आधार ऊर्जा की बढ़ती मांग को मात्र अनवीकरणीय ऊर्जा स्रोतों जैसे- बायोमॉस एवं अपशिष्ट, खनिज तेल, कोयला, प्राकृतिक गैस एवं परमाणु ऊर्जा पर निर्भर रह कर वैकल्पिक ऊर्जा के बिना पूर्ण नहीं किया जा सकता है। आज यह आवश्यक हो गया है कि वैकल्पिक ऊर्जा के साधनों का वैज्ञानिक रूप से प्रयोग किया जाये, जिससे प्रकृति पर कम बोझ डालकर अधिकतम ऊर्जा की प्राप्ति की जा सके। इसके लिये गैरपरम्परागत ऊर्जा स्रोतों जैसे- सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा, जैव ऊर्जा, जल ऊर्जा एवं बायो गैस इत्यादि ऊर्जा के विकास एवं प्रचार-प्रसार की आवश्यकता है जिससे अधिकतम ऊर्जा की बचत हो।

बड़े औद्योगिक, सार्वजनिक एवं राष्ट्रीय स्तर पर ऊर्जा संरक्षण के महत्त्व को समझने से ऊर्जा संकट की समस्या को पूर्णत: हल नहीं किया जा सकता बल्कि इसके लिये देश के प्रत्येक नागरिक को इस स्थिति को समझना एवं सार्थक प्रयास करना आवश्यक है। यद्यपि आज वैज्ञानिकों ने ऊर्जा बचत करने वाली अनेक तकनीकियों एवं गैर परम्परागत ऊर्जा से संचालित अनेक व्यावसायिक तथा घरेलू तकनीक एवं उपकरण विकसित कर लिये हैं जो परम्परागत ऊर्जा स्रोतों की बचत करने के साथ-साथ पर्यावरण मित्र भी हैं परन्तु व्यावहारिक स्तर पर सामान्यजन द्वारा इसके स्वैच्छिक प्रयोग एवं जागरूकता के प्रति उदासीनता व्याप्त है। इसके कारण नवीकरणीय ऊर्जा विकास का जो लक्ष्य रखा गया है पूर्णत: पूर्ण नहीं हो पा रहा है। सामान्य नागरिक ऊर्जा संरक्षण एवं नवीकरणीय ऊर्जा के प्रति क्यों उदासीन हैं? इसका क्या कारण है? ऊर्जा संकट एवं इसकी रोकथाम के प्रति सामान्यजन कितने जागरूक हैं? इन्ही तथ्यों को ध्यान में रखकर **ऊर्जा संकट एवं इसके संरक्षण के क्षेत्र में परिवार की जानकारी एवं जागरूकता का अध्ययन (गोरखपुर नगर क्षेत्र के संदर्भ में)** विषय का चयन किया गया।

अध्ययन के उद्देश्य

- ऊर्जा संकट के क्षेत्र में परिवार की जानकारी एवं जागरूकता का अध्ययन।
- ऊर्जा संसाधन स्रोतों को प्राथमिकता देने में परिवारों की अभिरुचि का अध्ययन।
- ऊर्जा संरक्षण के क्षेत्र में परिवार की जानकारी एवं जागरूकता का अध्ययन।

अनुसंधान प्रविधि

शोध कार्य की अध्ययन प्रक्रिया को इस प्रकार से योजनाबद्ध किया गया-

भौगोलिक क्षेत्र- इस शोध कार्य को सम्पादित करने हेतु गोरखपुर के हुमायूँपुर, आर्यनगर, बशारतपुर एवं बेतियाहाता क्षेत्रों का चयन किया गया।

प्रतिचयन विधि- आँकड़ों के संग्रह हेतु प्रतिदर्श का चयन 'आकस्मिक प्रतिचयन विधि' द्वारा किया गया।

न्यादर्श एवं इकाइयों का चयन- न्यादर्श के चयन हेतु मध्यम आयवर्गीय 100 परिवारों से 30-60 वर्ष की गृहणियों का चयन किया गया।

तथ्य संकलन हेतु उपकरण- तथ्य संकलन हेतु प्रश्नावली विधि एवं स्वरचित प्रश्नावली का प्रयोग किया गया, जिसमें 25 प्रश्नों का संकलन है।

अध्ययन हेतु सांख्यिकी एवं विश्लेषण- अध्ययन के पश्चात् प्राप्त आँकड़ों का विश्लेषण एवं प्रस्तुतिकरण हेतु मध्यमान, प्रतिशत, एवं सारणी विधि का प्रयोग किया गया।

परिणाम एवं विश्लेषण –

ऊर्जा संकट एवं इसके संरक्षण के क्षेत्र में परिवार की जानकारी एवं जागरूकता का अध्ययन (गोरखपुर नगर क्षेत्र के संदर्भ में) के द्वारा प्राप्त आँकड़ों का वर्गीकरण, परिणाम एवं विश्लेषण इस प्रकार है –

तालिका संख्या –1

ऊर्जा संकट के संदर्भ में परिवार की जानकारी एवं जागरुकता का अधययन

क्रम सं.	उत्तरदाताओं का वितरण	उत्तर विवरण	प्रतिशत (100%) (N = 100)
1	देश के आर्थिक ऊर्जा संकट का ज्ञान	ज्ञान नही है	33.00
		ज्ञान है	67.00
2	देश के ऊर्जा आपूर्ति व्यवस्था का ज्ञान	हाँ	34.00
		नहीं	46.00
		थोड़ा–बहुत	20.00
3	वर्तमान विद्युत उत्पादन एवं उपभोग दर का ज्ञान	हाँ	33.00
		नहीं	67.00
4	कोयला भंडार की उपलब्धता का ज्ञान	ज्ञान है	69.00
		ज्ञान नहीं	31.00
5	पेट्रोलियम के वर्तमान भण्डार का ज्ञान	ज्ञान है	69.00
		ज्ञान नहीं है	31.00
6	विद्युत की अपूर्ण आपूर्ति का कारण	कम उत्पादन	20.00
		चोरी	49.00
		प्रशासन तन्त्र की कमी	31.00
7	ईंधन की कीमतों में वृद्धि का कारण	प्रशासन तन्त्र की कमी	40.00
		उत्पादन में कमी	15.00
		सीमित भंडार	45.00

8	ईंधन की अपूर्ण आपूर्ति का कारण	प्रशासन तन्त्र की कमी	32.00
		उत्पादन में कमी	15.00
		चोर बाजारी	53.00

तालिका संख्या-1 के अनुसार - ऊर्जा संकट के संदर्भ में परिवार की जानकारी एवं जागरूकता का अध्ययन के संदर्भ में 33 प्रतिशत परिवारों को देश के आर्थिक ऊर्जा संकट का ज्ञान नहीं है, जबकि 67 प्रतिशत इस स्थिति को जानते हैं और उनका मत है कि इस समस्या के निदान के लिये ऊर्जा का संरक्षण करना चाहिये। 34 प्रतिशत परिवारों को देश की ऊर्जा आपूर्ति व्यवस्था का ज्ञान है, उन्हें ये ज्ञात है कि देश को काफी मात्रा में ऊर्जा संसाधनों का आयात करना पड़ता है जबकि 20 प्रतिशत को थोड़ा-बहुत एवं 46 प्रतिशत को कोई ज्ञान नहीं है। 33 प्रतिशत परिवारों को वर्तमान विद्युत उत्पादन एवं उपभोग दर का ज्ञान है, उन्हें ये ज्ञात है कि मांग से उत्पादन कम है। जबकि 67 प्रतिशत को इसका ज्ञान नहीं है। 69 प्रतिशत परिवार ये तो जानते हैं कि कोयले एवं पेट्रोलियम का भण्डार कम है, परन्तु कितना कम है ये ज्ञात नहीं है, जबकि 31 प्रतिशत को इस विषय में ज्ञान नहीं है। 20 प्रतिशत परिवार विद्युत की अपूर्ण आपूर्ति का कारण कम उत्पादन को मानते हैं जबकि 49 प्रतिशत चोरी एवं 31 प्रतिशत प्रशासन तन्त्र की कमी को अपूर्ण आपूर्ति का कारण मानते हैं। 40 प्रतिशत परिवार ईंधन की कीमतों में वृद्धि का कारण प्रशासन तन्त्र की कमी को मानते हैं तथा 15 प्रतिशत परिवार उत्पादन में कमी एवं 45 प्रतिशत सीमित भंडार को इसका कारण मानते हैं। 32 प्रतिशत परिवार ईंधन की अपूर्ण आपूर्ति का कारण प्रशासन तन्त्र की कमी को मानते हैं, 15 प्रतिशत कम उत्पादन एवं 53 प्रतिशत चोर बाजारी को इसका कारण जानते हैं।

तालिका संख्या- 2

ऊर्जा स्रोतों को प्राथमिकता देने में परिवारों की अभिरुचि का अध्ययन

क्रम सं.	**उत्तरदाताओं का वितरण**	**उत्तर विवरण**	**प्रतिशत (100%) (N = 100)**
1	ऊर्जा स्रोतों से परिचय	सौर ऊर्जा स्रोत का ज्ञान	10.00
		मात्र विद्युत ऊर्जा स्रोत का ज्ञान	12.00
		नवीकरणीय ऊर्जा स्रोत का ज्ञान	72.00
		अनवीकरणीय ऊर्जा स्रोत का ज्ञान	06.00
2	अनवीकरणीय ऊर्जा स्रोतों के प्रयोग को प्राथमिकता	पेट्रोल, विद्युत एवं एल.पी.जी.	78.00
		लकड़ी, मिट्टी का तेल एवं डीजल	22.00

3	नवीकरणीय ऊर्जा स्रोतोंका ज्ञान	सौर ऊर्जा एवं बायो गैस ज्ञान	43.00
		अन्य स्रोतों का भी ज्ञान	20.00
		ज्ञान नहीं	37.00
4	ऊर्जा के आधार पर घरेलू	विद्युत एवं एल.पी.जी.	98.00
	उपकरणों को प्राथमिकता	सौर ऊर्जा एवं बायो गैस	02.00
5	ऊर्जा स्रोत के आधार पर	पेट्रोल एवं डीजल	91.00
	वाहनों को प्राथमिकता	विद्युत एवं सी.एन.जी.	08.00
6	घरेलू ईंधन स्रोत को	विद्युत एवं एल.पी.जी.	80.00
	प्राथमिकता	लकड़ी, मिट्टी का तेल	20.00
7	बायो गैस प्लान्ट के प्रयोग	हाँ	83.00
	को महत्त्व देना	नहीं	17.00
8	मानव मल आधारित बायो गैस	हाँ	33.00
	प्लान्ट के प्रयोग को महत्त्व देना	नहीं	67.00

तालिका संख्या 2 के अनुसार - 'ऊर्जा स्रोतों को प्राथमिकता देने में परिवारों की अभिरुचि का अध्ययन' के संदर्भ में ऊर्जा स्रोतों से परिचय के विषय में 10 प्रतिशत को सौर ऊर्जा स्रोत का ज्ञान, 12 प्रतिशत को मात्र विद्युत ऊर्जा स्रोत का ज्ञान, 72 प्रतिशत को नवीकरणीय ऊर्जा स्रोत का ज्ञान एवं 6 प्रतिशत अनवीकरणीय ऊर्जा स्रोत का ज्ञान है। 78 प्रतिशत परिवार पेट्रोल, विद्युत एवं एल.पी.जी. तथा 22 प्रतिशत लकड़ी, मिट्टी का तेल एवं डीजल जैसे अनवीकरणीय ऊर्जा स्रोतों के प्रयोग को प्राथमिकता देते हैं। 43 प्रतिशत परिवारों को सौर ऊर्जा एवं बायो गैस, 20 प्रतिशत को अन्य नवीकरणीय ऊर्जा स्रोतों का भी ज्ञान है तथा 37 प्रतिशत परिवारों को नवीकरणीय ऊर्जा स्रोतों का ज्ञान नहीं है। ऊर्जा स्रोत के आधार पर 98 प्रतिशत परिवार विद्युत एवं एल.पी.जी. द्वारा संचालित घरेलू उपकरणों को प्राथमिकता देते हैं और मात्र 2 प्रतिशत ही सौर ऊर्जा एवं बायो गैस के महत्त्व को स्वीकार करते है। 80 प्रतिशत परिवार विद्युत एवं एल.पी.जी. को घरेलू ईंधन स्रोत के रूप में प्राथमिकता देते हैं और 20 प्रतिशत लकड़ी एवं मिट्टी तेल को प्राथमिकता देते हैं। 83 प्रतिशत परिवार बायो गैस प्लान्ट के प्रयोग को महत्त्व देते हैं तथा इनका मत है कि इसके प्रचार-प्रसार से घरेलू ईंधन की समस्या को काफी सीमा तक कम किया जा सकता है, जबकि 17 प्रतिशत इसे महत्त्व नहीं देते हैं। 33 प्रतिशत परिवार मानव मल आधारित बायो गैस प्लान्ट के प्रयोग को महत्त्व देते हैं तथा मल निस्तारण की उचित तकनीकी मानते हैं परन्तु 67 प्रतिशत घृणा के कारण इसे पसन्द

नहीं करते हैं।

तालिका संख्या - 3

ऊर्जा संरक्षण के क्षेत्र में परिवार की जानकारी एवं जागरूकता का अध्ययन

क्रम सं.	उत्तरदाताओं का वितरण	उत्तर विवरण	प्रतिशत (100%) (N = 100)
1	पेट्रोल की बचत करना	हाँ	73.00
		नहीं	27.00
2	रसोई गैस की बचत करना	हाँ	85.00
		नहीं	15.00
3	सौर ऊर्जा उपकरणों काप्रयोग करना	हाँ	13.00
		नहीं	87.00
4	सौर ऊर्जा उपकरणों के कम	अज्ञानता	40.00
	प्रयोग का कारण	जागरुकता की कमी	60.00
5	ऊर्जा की बचत करने वाले उपकरणों	हाँ	48.00
6	एवं वाहनों का प्रयोग सार्वजनिक विद्युत उपकरणों को	नहीं हाँ	52.00 50.00
	बन्द करना	नहीं	30.00
		कभी-कभी	20.00
7	नवीकरणीय ऊर्जा वाले उपकरण	हाँ	37.00
	एवं वाहनों का प्रयोग	नहीं	63.00
8	ऊर्जा की बचत को प्रेरित करना	हाँ	73.00
		नहीं	27.00
9	ऊर्जा संरक्षण हेतु प्रशासनिक प्रयासों की आवश्यकता	ऊर्जा के नवीन स्रोतों की खोज व ऊर्जा स्रंरक्षण हेतु जागरुक करना	53.00
		कोई अपेक्षा नहीं	47.00

तालिका संख्या 3 के अनुसार - 'ऊर्जा संरक्षण के क्षेत्र में परिवार की जानकारी एवं जागरूकता का अध्ययन' के संदर्भ में 73 प्रतिशत परिवार पेट्रोल एवं 85 प्रतिशत रसोई गैस की बचत करते हैं क्योंकि ये काफी महंगे हो गये हैं जबकि 27 प्रतिशत परिवार पेट्रोल एवं 15 प्रतिशत रसोई गैस की बचत नहीं करते हैं। 13 प्रतिशत परिवार किसी सौर ऊर्जा उपकरणों का प्रयोग करते हैं जबकि 87 प्रतिशत सौर ऊर्जा उपकरणों का प्रयोग नहीं करते हैं क्योंकि वे इसे महंगा एवं असुविध ाजनक मानते हैं। सौर ऊर्जा उपकरणों के कम प्रयोग का कारण 40 प्रतिशत परिवार अज्ञानता एवं 60 प्रतिशत जागरूकता की कमी को मानते हैं। इनका मत है कि इस दिशा में प्रचार-प्रसार एवं तकनीकी सुधार के द्वारा सौर ऊर्जा उपकरणों के प्रयोग को बढ़ाया जा सकता है। 48 प्रतिशत परिवार विद्युत ऊर्जा की बचत करने वाले उपकरणों एवं वाहनों का प्रयोग करते हैं जबकि 52 प्रतिशत ऐसा नहीं करते क्योंकि उनके उपकरण एवं वाहन पुराने हैं। 50 प्रतिशत परिवार सार्वजनिक विद्युत उपकरणों को बन्द करते हैं, 20 प्रतिशत कभी-कभी एवं 30 प्रतिशत नहीं करते हैं। क्योंकि वे इसे अपना काम नहीं मानते हैं एवं इस ओर विशेष ध्यान नहीं देते हैं। 37 प्रतिशत परिवार नवीकरणीय ऊर्जा वाले उपकरण एवं वाहनों का प्रयोग करते हैं जबकि 63 प्रतिशत इनका प्रयोग नहीं करते क्योंकि ये असुविधाजनक एवं तकनीकी रूप से कम कुशल हैं। 73 प्रतिशत परिवार ऊर्जा की बचत को प्रेरित करते हैं एवं 27 प्रतिशत ऐसा नहीं करते हैं। 53 प्रतिशत परिवार ऊर्जा संरक्षण हेतु प्रशासनिक प्रयासों को आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार इसके लिये ऊर्जा के नवीन स्रोतों की खोज व ऊर्जा संरक्षण हेतु जागरूक करना चाहिये जबकि 47 प्रतिशत को बढ़ती महंगाई से त्रस्त होने के कारण कोई अपेक्षा नहीं हैं।

निष्कर्ष एवं सुझाव

वर्तमान समय में ऊर्जा संकट एक बड़ी समस्या बन चुकी है। आज विश्व में जितने भी परम्परागत ऊर्जा के साधन शेष हैं उनसे मात्र कुछ दशकों तक ही काम चलाया जा सकता है। अतः यह आवश्यक हो गया है कि ऊर्जा संरक्षण एवं अपरम्परागत ऊर्जा स्रोतों के प्रयोग को प्राथमिकता दी जाये इसी दिशा में ऊर्जा संकट एवं इसके संरक्षण के क्षेत्र में परिवार की जानकारी एवं जागरूकता के अध्ययन के पश्चात् प्राप्त निष्कर्ष इस प्रकार हैं -

- ऊर्जा संकट के संदर्भ में परिवार की जानकारी एवं जागरूकता के अध्ययन के पश्चात् यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ कि - परिवारों को ऊर्जा संकट है ये तो ज्ञात है परन्तु ऊर्जा उत्पादन दर, आपूर्ति व्यवस्था, पेट्रोल कोयले के भंडार, विद्युत दर का स्पष्ट ज्ञान नहीं है। वे मात्र इतना जानते हैं कि ये कम है तथा अपूर्ण आपूर्ति का कारण प्रशासन तन्त्र की कमी, चोर बाजारी एवं कम उत्पादन को मानते हैं।

- ऊर्जा स्रोतों को प्राथमिकता देने में परिवारों की अभिरुचि के अध्ययन के पश्चात् यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ कि - अधिकांश परिवार ऊर्जा स्रोत के रूप में अनवीकरणीय ऊर्जा स्रोतों को ही जानते हैं जबकि अनवीकरणीय ऊर्जा स्रोतों के विषय में इनका ज्ञान सीमित है। सभी परिवार पेट्रोल, विद्युत, एल0 पी0 जी0, लकड़ी, मिट्टी का तेल एवं डीजल जैसे अनवीकरणीय ऊर्जा स्रोतों के प्रयोग को प्राथमिकता देते हैं। वे बायोगैस प्लान्ट के महत्त्व को तो स्वीकार करते हैं परन्तु मानव मल आधारित बायोगैस प्लान्ट घृणा के कारण स्वीकार नहीं कर पाते हैं।

- ऊर्जा संरक्षण के क्षेत्र में परिवार की जानकारी एवं जागरूकता के अध्ययन के पश्चात् यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ कि - अधिकांश परिवार महंगा होने के कारण एल.पी.जी., विद्युत एवं पेट्रोल की बचत तो करते हैं किन्तु ऊर्जा की बचत करने वाले एवं नवीकरणीय ऊर्जा स्रोतों द्वारा संचालित वाहन एवं उपकरणों को कम कुशल होने के कारण कम महत्त्व देते हैं। अधिकांश परिवार ऊर्जा स्रोतों के संरक्षण को प्रोत्साहित करते हैं तथा वे चाहते हैं कि ऊर्जा संरक्षण हेतु नवीन स्रोतों की खोज जागरूकता फैलाने के लिये प्रोत्साहन हेतु प्रशासन इस ओर विशेष ध्यान दे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मध्यमवर्गीय परिवारों में ऊर्जा संकट के प्रति विशेष जागरूकता नहीं है तथा वे परम्परागत ऊर्जा स्रोतों पर ही विशेष रूप से निर्भर हैं। उन्हें ऊर्जा संकट की स्थिति का ज्ञान तो है परन्तु वास्तविक स्थिति एवं कारणों से अनभिज्ञ हैं। वे ऊर्जा संरक्षण हेतु स्वयोगदान को बहुत महत्त्व नहीं देते हैं एवं ऊर्जा संरक्षण हेतु प्रशासनिक प्रयासों को आवश्यक मानते हैं।

सुझाव -

ऊर्जा संकट से बचाव हेतु कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव इस प्रकार हैं-

- भारत की समग्र ऊर्जा नीति ऐसी दूरदृष्टि से अभिप्रेरित हो जो हर क्षेत्र की ऊर्जा की मांग को पूर्ण कर सके। इसमें देश के हर गरीब घर की मांग भी शामिल हो और ये मांगें कम से कम मूल्य पर सुरक्षित, स्वच्छ और सुविधाजनक ढंग से पूरी की जा सकें।

- भारत में सौर ऊर्जा प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। हमारा सौभाग्य है कि 300-320 दिन हमें धूप मिलती है जो पूरे वर्ष में 5000 खरब किलोवॉट घंटा (kwh) ऊर्जा के बराबर है। अतः इस अक्षय स्रोत के अधिकतम प्रयोग हेतु रणनीति तैयार की जाये।

- नवनिर्मित होने वाले कार्यालय, बहुमंजिली इमारतें, होटल, हॉस्टल एवं विविध आश्रम जैसे भवनों में सौर ऊर्जा उपकरण एवं बायो गैस प्लान्ट को लगाया जाना अनिवार्य किया जाये जिससे काफी मात्रा में ऊर्जा की बचत हो सकती है।

- देश में ऊर्जा की आपूर्ति लगातार बनाये रखने के कुछ अन्य उपाय इस प्रकार हैं- घरेलू संसाधन आधार का विस्तार करना, विदेशों से ऊर्जा स्रोत खरीदना, गैस आयात के लिये पाइप लाइन बिछाना, एल.एन.जी. टर्मिनलों का निर्माण करना तथा ऊर्जा का आयात बढ़ाने के लिये विदेशी मुद्रा भण्डार बढ़ाना भी महत्त्वपूर्ण उपाय है।
- देश में ऊर्जा संरक्षण हेतु नवीन स्रोतों को खोजने एव संरक्षण हेतु जागरूकता फैलाने के लिये कार्यक्रम चलायें एवं सामान्यजन को इस स्थिति के विषय में अवगत कराके उन्हें बचत के लिये प्रेरित किया जाये क्योंकि पृथ्वी का प्रत्येक व्यक्ति किसी परिवार का ही सदस्य है और बिना सामान्यजन के सहयोग के ऊर्जा संरक्षण के लक्ष्य को पूर्ण करना कठिन है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची -

- अवस्थी, सुरेश (दिसम्बर 2008), *'योजना'* संस्करण वर्ष 53 अंक-9, पृ. 45-46, योजना पब्लिकेशन।
- ओझा, एन.एन. (अगस्त 2009), *'सिविल सर्विसेज क्रॉनिकल'* नवीन संस्करण, पृ. 112-114 क्रानिकल पब्लिकेशन।
- दिव्यकीर्ति, विकास (फरवरी 2007), *'कुरुक्षेत्र'* संस्करण वर्ष 53 अंक-4, पृ. 3-17 कुरुक्षेत्र पब्लिकेशन।
- पारिख, एस. किरीट (अप्रैल 2009), *'योजना'* संस्करण वर्ष 53 अंक-4, पृ. 7-16, योजना पब्लिकेशन।
- यू.एस. एनर्जी इन्फॉरमेशन ऐडमिनिस्ट्रेशन (मार्च 18, 2013), ई.आई.ए., *इन्डिपेन्डेन्ट स्टेटिस्टिक्स ऐण्ड एनालाइसिस,* इन्टरनेट संस्करण।
- सिंह, जगजीत (जनवरी 2007), *'योजना'* संस्करण वर्ष 50 अंक-10, पृ. 40-41, योजना पब्लिकेशन।
- शर्मा, रमेश दत्त (2007), *'कादम्बिनी'* संस्करण वर्ष 47 अंक-4, पृ.-12-19, कादम्बिनी पब्लिकेशन।

भारत-कम्बुज सम्बन्ध में देवभाषा संस्कृत का योगदान

सोनाली पल्लवी*

कम्बुज देश आधुनिक कम्बोडिया का प्राचीन नाम है। भारत और कम्बुज देश का सांस्कृतिक सम्बन्ध सदियों पुराना है। दक्षिण पूर्व एशिया भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण क्षेत्र है।

भारतीय भाषा, लिपि, साहित्य और कला का प्रभाव इस क्षेत्र पर ईसा की प्रथम शताब्दी से ही प्रारम्भ हो गया। दक्षिण-पूर्व एशिया से जितने संस्कृत अभिलेख प्राप्त हुए हैं-उनमें सबसे अधिक संख्या में कम्बोडिया से ही उपलब्ध है। संस्कृत और ख्मेर अभिलेखों की उपलब्ध संख्या लगभग 1500 है। शैव, वैष्णव और बौद्ध कला कृतियाँ आज भी कम्बुज देश में सर्वत्र बिखरी पड़ी हैं। अंगकोर थॉम का अंगकोर वाट विश्व में सबसे बड़ा विष्णु का मन्दिर है।[1]

अभिलेख किसी भी देश के इतिहास एवं संस्कृति को अनुशीलन के साधनों में एक महत्वपूर्ण साधन है। इनकी महत्ता एवं उपयोगिता उस समया और बढ़ जाती है जब इतिहास निर्माण में हमें मात्र पुरातात्विक साधनों पर निर्भर होना पड़ता है। यद्यपि पुरातात्विक साधनों में लेख एवं मुद्राएं दोनों आती हैं पर आकार प्रकार में लघु तथा सीमित सूचनाओं के कोष होने के नाते मुद्राएं हमें जहाँ संक्षिप्त एवं सीमित जानकारी देती हैं, अभिलेख अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत एवं प्रामाणिक सूचनाएं प्रदान करते हैं। इस प्रकार अभिलेख इतिहास की मूल्यवान सामग्रियों में सर्वोपरि है। जहाँ तक कम्बुज का सम्बन्ध है, यहाँ के उत्कीर्ण लेख न मात्र इस देश के प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति के अध्ययन में उपादेय है बल्कि प्राचीन कम्बुज के साहित्यिक अवशेष के रूप में भी इनका अविस्मरणीय महत्व है।[2] इनके माध्यम से तत्युगीन साहित्यिक अभिरूचि, ज्ञान एवं उन्नति का सहज में अनुमान लगाया जा सकता है। यहाँ से प्राचीन काल के जो लेख अद्यतन उपलब्ध हुये हैं, उनकी संख्या लगभग 1500 हैं। इनमें कुछ बहुत बड़े हैं और आकार में खण्ड काव्य जैसे प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ राजेन्द्रवर्मन द्वितीय (944-968) के प्रेरूख लेख में 298 श्लोक में तथा मेबन लेख में 218 श्लोक हैं। सेनापति संग्राम के प्रहतोक अभिलेख में 161 श्लोक मिलते हैं तथा उदयादिव्यवर्मन

*c/o प्रो. राजन गुप्त, अध्यक्ष, स्नातकोत्तर प्राचीन भारतीय एवं एशियायी अध्ययन विभाग, गया कालेज, गया (मगध विश्वविद्यालय, बोधगया), बिहार

के प्रसत खन अभिलेख में 122 श्लोक हैं। सूर्यवर्मन पंचम के बन-थन अभिलेख की रचना तीन सर्गों में की गई है और उसमें कुल 169 श्लोक हैं। जयवर्मन सप्रम तथा यशोवर्मन के लेख भी अत्यधिक बहुत ही बड़े हैं।[3]

जैसा कि हम जानते हैं कि संस्कृत भाषा भारत की देव भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी और संस्कृत भाषा का आगमन कम्बुजदेश में औपनिवेशीकरण के सिलसिले में ही हुआ था। इसका स्थानीय ख्मेर भाषा पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा सिवाय इसके कि इसने कतिपय संस्कृत शब्दों को ग्रहण कर लिया था। लेकिन इसके बावजूद भी संस्कृत भाषा लगभग 800 वर्षों तक पूर्णतया प्रभावी रही, यद्यपि कम्बोडिया से इस अवधि की कोई पाण्डुलिपि न तो संस्कृत भाषा में न ही स्थानीय भाषा में मिली है। इस कालावधि के साहित्यिक अवशेष मात्र कम्बुज के अभिलेख हैं। इनमें अधिकांश नवीं तथा दसवीं शताब्दी ई. से सम्बद्ध हैं।[4]

कम्बुज के संस्कृत लेखों को प्रकाशित करने, पाठ प्रस्तुत करने, अनुवाद करने तथा व्यवस्थित करने में जिन विद्वानों ने महत्वपूर्ण भूमिकाएं अदा की उनमें सर्वश्री जूलेस हरमाण्ड, एच. कर्न, एम. आयमोनियर, एम.ए. बर्थ, एम.ए. बर्गेन, एम. फिनॉट, जॉर्ज सोदेस, प्रो. आर.सी. मजूमदार तथा प्रो. एम. के शरण के नाम लिये जा सकते हैं। जूलेस हरमाण्ड ने सर्वप्रथम इन अभिलेखों की फोटो प्रति तैयार करवाई जिसके आधार पर एच. कर्न ने इसकी वाचना प्रस्तुत की। एम. आयमोनियर ने इन्हें व्यवस्थित कर इनका अनुवाद प्रस्तुत किया जो क्रमशः सन् 1900, 1901 तथा 1904 ई. में तीन खण्डों में प्रकाशित हुये। एम. बर्थ तथा एम. बर्गेन ने संस्कृत अभिलेखों का दो भागों में सम्पादन किया। अभिलेखों के प्रकाशन के क्षेत्र में अगला सहयोग एम. फिनॉट तथा जॉर्ज सोदेस का था। प्राचीन भारतीय इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान डॉ. आर.सी. मजूमदार ने 1953 ई. में 'इन्सक्रिप्सन्स ऑव कम्बुज' शीर्षक ग्रन्थ के अन्तर्गत कम्बुज के लेखों का प्रकाशन किया। डॉ. एम.के. शरण ने कम्बुज के संस्कृत अभिलेखों के आधार पर एक शोध ग्रन्थ तैयार किया जो 'स्टडीज इन संस्कृत इन्सक्रिप्सन्स ऑव ऐनसियन्ट कम्बोडिया' शीर्षक के अन्तर्गत 1974 ई. में प्रकाशित हुआ है।[5]

प्राचीन कम्बुज के लेख ललित एवं परिमार्जित काव्य शैली में रचित है। इनमें कुछ अपवादों के अतिरिक्त व्याकरणिक एवं भाषिक अशुद्धियाँ नहीं है। इनमें पाणिनि एवं पतंजलि के महाभाष्य में प्रतिपादित व्याकरण के नियमों का पूर्णतः पालन किया गया है। अभिलेखों में शैव व्याकरण (अष्टाध्यायी), महाभाष्य तथा व्याकरण का प्रायः उल्लेख हुआ है। सम्राट् यशोवर्मन के विषय में उल्लिखित है कि उसमें महाभाष्य पर एक टीका भी लिखी थी। यथार्थतः पाणिनि के व्याकरण तथा महाभाष्य के सम्यक् पठन-पाठन से लेखों में व्याकरण सम्बन्धी दोष नहीं आने पाये। इन लेखों के रचनाकारों को अलंकार एवं छन्द शास्त्र की पर्याप्त जानकारी थी। इनमें आर्या, अनुष्टुप, स्रगधरा, शार्दूलविक्रीडित, इन्द्रवज्रा, मालिनी, वसंत तिलक, संवृति, उपजाति, मदाक्रान्ता, वंशस्थ आदि प्रमुख

छन्दों का प्रयोग किया गया है।[6]

अभिलेखों के निबन्धकार छन्द एवं अलंकार के विशेषज्ञ तो थे ही, इनकी भारतीय बाङ्मय के विविध स्रोतों में भी अच्छी पैठ थी। ये भारतीय दर्शन एवं जीवन विषयक विविध साहित्यिक कृतियों, महाकाव्यों, आचार ग्रन्थों, धर्मशास्त्रों, पौराणिक कथाओं एवं इतिवृतों से भी भली-भाँति परिचित थे। अभिलेखों में पाणिनी की अष्टाध्यायी, मनुस्मृति, वात्स्यायन, कामसूत्र, विलाक्षनीति शास्त्र, पतंजलि के महाभाज्य, सुश्रूत संहिता, त्रयी (वेद), वेदान्त, रामायण, महाभारत, बौद्ध ग्रन्थों, पौराणिक पुरा कथाओं एवं कहानियों, न्यायसूत्र, योगाचार, सिद्धान्त धर्म शास्त्र का उल्लेख हुआ है।[7] इन्द्रवर्मन के गुरु शिवसोम ने शास्त्र, वेद, तर्क, काव्य, पुराण, तथा भारत (महाभारत) का पूर्ण अध्ययन किया था। कवीन्द्र पण्डित पंच व्याकरण, शब्द, अर्थ, आगम, शास्त्र, काव्य, महाभारत, रामायण आदि का निष्णात् पण्डित था। सम्राट् यशोवर्मन भी विविध विषयों एवं शास्त्रों में निष्णात थे तथा उसने महाभाष्य पर एक टीका भी लिखी थी। धर्मपुर निवासी ब्राह्मण धर्मस्वामी की वेद वेदांगों में अत्यधिक अभिरूचि थी। इसी प्रकार सूर्यवर्मन द्वितीय के विषय में भी कहा गया है कि वह भाषा, काव्य, षड्दर्शन, धर्मशास्त्र आदि में पारंगत था। सातवीं शताब्दी ई. के एक लेख में शिव का परम तत्व से तादात्म्य किया गया है तथा यह उपनिषद् के वेदान्त दर्शन से प्रभावित प्रतीत होता है।[8]

इन अभिलेखों से पता चलता है कि इस समय कम्बुजवासियों को महाकवि कालिदास, भारवि, मयूर, प्रवरसेन, गुणाढ्य जैसे कवियों की भी पूर्ण जानकारी थी। राजेन्द्रवर्मन द्वितीय के प्रेरूप अभिलेख में रघुवंश के चार श्लोकों की सुव्यक्त श्रुत्यानुवृति है। इनमें कभी-कभी उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया गया है जिन्हें कविवर कालिदास ने प्रयुक्त किया है। इस लेख में दक्षिणा एवं दिलीप का भी उल्लेख किया गया है- ''यस्य सोराज्यद्यापि दिलीपस्ये विश्रूतम्''। इनमें रूद्रवर्मन के राज्य की तुलना दिलीप से की गई है। यशोवर्मन के लेख में प्रवरसेन तथा मयूर का उल्लेख उपलब्ध है जिन्होंने क्रमशः सेतुबन्ध तथा सूर्यशतक का प्रणयन किया था।[9]

अभिलेखों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि इनके प्रशस्तिकार शुद्ध संस्कृत लिख सकते थे और साहित्यिक क्षेत्र में उनका अच्छा ज्ञान था। संस्कृत को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। कहा जाता है कि संस्कृत वहाँ की भाषा थी। इसका श्रेय कौण्डिन्य नामक महत्वाकांक्षी युवक का है जिसने कम्बुज देश में भारतीयों की ओर से अपना प्रथम चरण रखा था।[10]

संदर्भ

1. चटर्जी, बी.आर. - इण्डियन कल्चरल इन्फ्लुयंस इन कम्बोडिया, कलकत्ता, 1965, पृ.-27
2. शरण, महेश कुमार - प्राचीन भारत के प्रमुख अभिलेख, नई दिल्ली, 2014, पृ.-2
3. मजूमदार, आर.सी. - इन्सक्रिप्सन्स ऑफ कम्बुज, कलकत्ता, 1953, पृ.-14

4. पाण्डेय, आर.एन. – दक्षिण पूर्व एशिया में भारतीय संस्कृति, इलाहाबाद, 1995, पृ.–214
5. शरण महेश कुमार – स्टडीज इन संस्कृत इन्सक्रिप्सन्स ऑफ ऐनसियन्ट कम्बोडिया, नई दिल्ली, 1974, पृ. –17
6. पुरी, बी.एन. – सुदूर पूर्व में भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, लखनऊ, 1965, पृ.–313
7. विद्यालंकर, सत्यकेतु – दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व एशिया में भारतीय संस्कृति, मसूरी, 1965, पृ.–27
8. शरण, महेश कुमार – कम्बुजदेश का राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास, वाराणसी, 1995, पृ.–112
9. शिवराम मूर्ति, सी. – संस्कृत लिटरेचर ऐण्ड आर्ट, नई दिल्ली, 1970, पृ.–14
10. मुकर्जी, एस.बी. – साउथ ईस्ट एशिया, कलकत्ता,1966, पृ.–17

विशेष द्रष्टव्य – शरण, महेश कुमार – कम्बोडिया के संस्कृत अभिलेख, भाग 1–2, 2015, नई दिल्ली

स्मृतिशास्त्रोक्त राजपद : एक समीक्षा

डॉली जैन*

प्रत्येक राष्ट्र को उन्नत तथा सुव्यवस्थित करने के लिए उपयुक्त शासन प्रणाली की आवश्यकता होती है। राष्ट्र के हितैषी आचार्यों एवं राष्ट्रभक्त कवियों ने ऐसे अनेक ग्रन्थ प्रस्तुत किये हैं, जिनमें उपयुक्त शासन प्रणाली द्वारा राज्य संचालन के निर्देश दिये गये हैं। राज्य संचालन के ढंग को ही राजनीति या राजशास्त्र कहते हैं। संस्कृत वाङ्मय में राजनीतिशास्त्र के लिए दण्डनीति, नीतिशास्त्र, नीति, राजधर्म, क्षत्रविद्या आदि शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। इस शास्त्र की आवश्यकता तथा उपादेयता तभी से अनुभव का विषय बन गयी, जबसे अराजकता से प्रजा की रक्षा करने के लिए राजा और शासन प्रणाली की आवश्यकता का अनुभव हुआ।

राजशास्त्र अथवा राजनीतिशास्त्र की ही शिक्षा पाकर राजा राज्य की व्यवस्था करने में, आर्थिक विकास करने में, प्रजाजनों को नियंत्रित करने में, धर्म-अर्थ-काम त्रिवर्ग से मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करने में, विदेशी नीति में सामंजस्य करने में प्रशंसनीय सफलता प्राप्त करता हैं अतएव प्रजाजन, शासक अथवा राष्ट्र के लिए अत्यधिक उपयोगी यह शास्त्र सभी व्यक्तियों के अध्ययन का विषय है। महाभारत के ये वाक्य इस विषय की उपयोगिता को स्पष्ट करने में समर्थ हैं कि अन्य सभी धर्म राजधर्म के अन्तर्गत आ जाते हैं। दण्डनीति के लुप्त होने पर तीनों वेद डूब जायेंगे। उन्नत और विकसित सभी कर्तव्यकर्म क्षीण हो जायेंगे, सभी आश्रम नष्ट हो जायेंगे, राजधर्म में ही सभी त्याग देखे जाते हैं, सभी प्रकार की दीक्षाएँ राजधर्म से सम्बद्ध होती हैं, सभी विद्याएँ राजधर्म से समन्वित होती हैं, सभी लोक राजधर्म में अन्तर्निहित हैं, अतएव सभी धर्म राजधर्मपूर्वक हैं।[1]

राजशास्त्र अथवा राजनीतिशास्त्र का परिचय वैदिक साहित्य एवं लौकिक साहित्य के साथ-साथ धर्मशास्त्रों, पुराणों, स्मृतियों तथा नीतिग्रन्थों में मिलता है। प्रायः सभी राजशास्त्र प्रणेताओं ने राज्य के सात अंग बतलाये हैं- स्वामी, अमात्य, जनपद अथवा राष्ट्र, दुर्ग, कोश, दण्ड (सेना) तथा मित्र।[2] ये सात अंग राज्य की प्रकृति भी कहलाते हैं। राज्य की सप्त प्रकृतियों में राजा का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। आचार्य चाणक्य ने तो राजा को सप्तांग राज्य का मूल मानते हुए उसे राज्य ही मान लिया है।[3] महाभारत में भी राजा की महत्ता का गुणगान किया गया है।[4] स्मृतियों के अन्तर्गत भी राजा का

*एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृत, दर्शन एवं वैदिक अध्ययन विभाग, 512, रामानुजन आवास, वनस्थली विद्यापीठ, टोंक (राजस्थान)

विवेचन अत्यन्त विस्तार से किया गया है। राजा का स्वरूप, गुण, कर्तव्य, प्रजापालन, ब्राह्मणों की रक्षा, न्यायपूर्वक कराधान, न्याय व दण्डव्यवस्था इत्यादि का सुव्यवस्थित उल्लेख इनमें प्राप्त होता है, जिनका बिन्दुवार विवेचन इस प्रकार है-

1. राजा का स्वरूप :

स्मृतिग्रन्थों की मान्यता है कि ईश्वर ने अत्याचारियों के भय से डरी हुई प्रजा की रक्षा के लिए इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा तथा कुबेर के अंश से राजा का निर्माण किया है। इसी कारण वह अपने तेज से सब जीवों को वशीभूत रखता है।[5]

2. राजा के गुण :

राजपद के अधिकारी के लिए अनेक गुण कहे गये हैं। वह विनीत व व्यसनहीन होना चाहिए।[6] राजा नीतिशास्त्र में कुशल, सन्धि-विग्रह के तत्त्वों को जाने, उसे देव तथा ब्राह्मणों के प्रति भक्तिभाव रखना तथा पितरों के कार्य में तत्पर रहना चाहिए।[7] राजा शुभ कर्म करने वाला, सच बोलने वाला, वेद (त्रयी) और तर्क (आन्वीक्षकी) में सुशिक्षित, ईमानदार, जितेन्द्रिय, गुणवान साथियों वाला, उपायों में सम्पन्न और सब प्रजाओं के साथ समानता का व्यवहार करने वाला हो और उनका हित करे।[8]

राजा इन्द्रियों को जीतने का सदैव यत्न करे क्योंकि जितेन्द्रिय राजा ही प्रजाओं को वश में रख सकता है।[9] काम से दस और क्रोध से आठ व्यसन उत्पन्न होते हैं। कामोत्पन्न व्यसनों में आसक्त राजा अपने देह को ही नष्ट कर बैठता है और क्रोधोत्पन्न व्यसनों में आसक्त राजा अर्थ धर्महीन होता है। आखेट, द्यूत, दिवाशयन, परदोषवर्णन, नारी सहवास, मद्यपान, नृत्यगान, वाद्य और वृथा भ्रमण से दस कामजन्य व्यसन हैं। चुगली, साहसकर्म, द्रोह, ईर्ष्या, असूया, अर्थदूषण, कठोर वचन और पारुष्य (क्रूरता) यह आठ क्रोधजन्य व्यसन हैं।[10]

3. राजा के कर्तव्य :

राजा के अनेक कर्तव्य स्मृतियों में निश्चित किये गये हैं। दुष्ट को दण्ड, श्रेष्ठ जन की पूजा, न्याय से कोष का बढ़ाना, अभ्यागतों के प्रति पक्षपात का न होना और अपने देश की रक्षा, ये पाँच यज्ञ राजाओं के कहे गये हैं।[11] राजा का एक कर्तव्य प्रजा को अपने धर्म में स्थिर रखना व पर ध र्म में तत्पर लोगों को दण्डित करना भी है।[12] बुध मुनि भी इसका समर्थन करते हैं कि जो विधान किये हुए को नहीं करते, राजा उसे उनसे कराये।[13] गौतम मुनि के अनुसार वह वर्णों और आश्रमों की न्याय के साथ रक्षा करे और अपने धर्म से डिगे हुओं को इनके धर्म में स्थापित करें। धर्म में स्थित हुआ ही वह कर का अधिकारी होता है, ऐसा माना जाता है।[14] इसके अतिरिक्त दान, वेदादि

पठन व योग अनुसरण व विप्रजन को सन्तुष्ट करने वाला आचरण राजा नित्य करे।[15]

4. प्रजापालन :

प्रजा का पिता की तरह पालन करना राजा का सर्वप्रमुख कर्तव्य कहा गया है।[17] प्रजापालन से उत्पन्न पुण्य हजार यज्ञों के पुण्य से भी अधिक कहा गया है।[18] प्रजा का पालन क्षत्रिय का परम धर्म कहा गया है, इस कारण राजा को प्रयत्नपूर्वक प्रजा की रक्षा करनी चाहिए।[18] राज्यासन पर स्थित राजा को धर्मपूर्वक प्रजा का पालन-पोषण करना चाहिए।[19]

राजा को प्रवञ्चक, चोर, द्यूत आदि खेलने वालों से तथा बलपूर्वक धनादि का अपहरण करने वालों से प्रजा की रक्षा करनी चाहिए।[20] यदि राजा प्रजा की रक्षा नहीं कर पाता तो असुरक्षित प्रजा अनेक प्रकार के पापाचरण करने लगती है। उस पापाचरण का आधा हिस्सेदार राजा को कहा गया है, क्योंकि वह रक्षा के लिए राजभाग को ग्रहण करता है।[21] यदि राजा प्रजा को उत्पीड़ित करता है तो प्रजा का सन्ताप राजा के कुल, लक्ष्मी तथा प्राणों के विनाश का हेतु बनता है।[22] प्रजापालन राजा के लिए इतना आवश्यक है कि यदि वह शत्रु देश को भी आत्मसात् करता है तो वहाँ की प्रजा का भी उसे सम्यक् परिपालन करना चाहिए।[23]

5. ब्राह्मणों की रक्षा :

ब्राह्मणों की रक्षा राजा का एक कर्तव्य कहा गया है। वेदों के जानने वाले और सम्पूर्ण शास्त्रों में कुशल ब्राह्मणों की पूजा जिस देश में राजा करता है, वहाँ मेघ बरसता है।[24] विप्रों के सन्तुष्ट रहने पर राजा का राज्य और राजकोष बढ़ता है और व्यवहार, कृषि तथा गौओं के परिपालन में वृद्धि होती है।[25]

6. न्यायपूर्वक कराधान :

राजा को न्यायपूर्वक अपनी प्रजा से कर लेने का अधिकार था। जो राजा धर्म बुद्धि में प्रवृत्त होकर ब्राह्मणों को दान दे, व सदा अपनी स्त्री में अनुरक्त रहे, वही राजा आय के छठें भाग का अधिकारी होता है।[26] जिसमें राजा का और व्यापारी तथा कृषकादि का सभी का लाभ हो, उस पर विचार करके ही राजा को कर लगाना चाहए। जैसे जोंक, वत्स व भ्रमर अपने भक्ष्य रूप आहार को स्वल्प ही लेते हैं, वैसे ही राजा भी स्वल्प ही वार्षिक कर लगाये। राजा व्यापारियों से पशु व स्वर्ण के लाभ का 50वाँ भाग व कृषकों से अन्न का छठाँ, आठवाँ या 12वाँ भाग ले।[27]

गौतम ऋषि का भी यही मत है कि किसान राजा को अपनी उपज का दसवाँ या आठवाँ छठाँ भाग बलि के रूप में दें।[28] यदि राजा अपनी प्रजा से अन्यायपूर्वक कराधान करके अपने राजकोष को समृद्ध करता है, तो वह शीघ्र ही अपने परिजनों के साथ नष्ट हो जाता है।[29]

7. न्याय व दण्ड व्यवस्था :

सब प्राणियों की रक्षा और न्यायपूर्वक दण्ड देना राजा का धर्म कहा गया है।[30] राजा को उच्छृंखल जनों का दमन करना चाहिए।[31] दण्ड का अत्यधिक महत्त्व बताया गया है। दण्ड के भय से सब चराचर जीव सुख प्राप्त करते हैं और स्वधर्म से विचलित नहीं होते। राजा को देश, काल, दण्डशक्ति एवं अपराधानुसार दण्ड आदि के शास्त्रीय ज्ञान का बलपूर्वक विचार करके अपराधियों के लिए यथायोग्य दण्ड निश्चित करना चाहिए।[32]

विचारपूर्वक प्रदत्त दण्ड सब प्रजाओं को प्रसन्नता देता है, किन्तु अविचारयुक्त दण्ड सब प्रकार से नाश करता है। यदि राजा दण्डनीय को दण्ड न दे तो बलवान निर्बल व्यक्तियों को काँटे में फँसी हुई मछलियों के समान भूनकर भक्षण कर लेंगे।[33] परन्तु दण्ड प्रयोग के लिए भी राजा की पात्रता सुनिश्चित की गयी है। जो मंत्री आदि सहायकों से रहित, मूर्ख, लोभी, शास्त्रविहीन और विषयासक्त है, वही दण्ड का प्रयोग न्यायपूर्वक नहीं कर सकता। जो राजा पवित्र, सत्यनिष्ठ, शास्त्रानुसार आचरण करने वाला, बुद्धिमान और श्रेष्ठ सहायकों से सम्पन्न हो, वही दण्ड का प्रयोग कर सकता है।[34] यही अन्यत्र भी कहा गया है कि कृष्ण और चंचल बुद्धि से युक्त व्यक्ति के द्वारा नीति के अनुसार दण्ड का प्रयोग सम्भव नहीं है अपितु अवञ्चक, शुचि, अच्छे मंत्रियों से युक्त तथा बुद्धिमान व्यक्ति ही इसका समुचित प्रयोग कर सकता है।[35]

शास्त्रोक्त मार्ग से प्रयुक्त दण्ड देव, मनुष्य एवं असुरों से युक्त – इस संसार को आनन्दित कर देता है, वहीं तद्विपरीत मार्ग से प्रयुक्त दण्ड संसार को क्रोधित कर देता है।[36] शास्त्रोक्त मार्ग का परित्याग करके किया गया दण्ड का प्रयोग राजा के स्वर्ग, कीर्ति तथा लोक का विनाशक होता है, वहीं शास्त्रोक्त मार्ग से प्रयुक्त दण्ड राजा के स्वर्ग, कीर्ति तथा लौकिक उत्कर्ष का भी प्रदायक होता है।[37] राजा के लिए अपने धर्म से विचलित भाई, पुत्र, आचार्यादि, श्वसुर, मामा इत्यादि भी अदण्ड्य नहीं हैं अर्थात् दण्ड योग्य हैं।[38]

इस प्रकार स्मृतियों में राजपद के अधिकारी का विस्तृत विवेचन किया गया है। प्रस्तुत शोध पत्र का निष्कर्ष निम्न बिन्दुओं में देखा जा सकता है–

1. स्मृतिशास्त्रों में राजा को मानवी न मान कर दैवीय स्वरूप प्रदान किया गया है और इस कारण उसमें ईश्वरीय गुणों का आधान किया गया है।
2. राजपद के अधिकारों में बहुत से गुणों का होना आवश्यक माना गया है। गुणवान व्यक्ति शासन का संचालन अपेक्षाकृत अधिक अच्छी प्रकार से कर सकता है।
3. राजा के कर्तव्यों में प्रजापालन सर्वप्रमुख कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि तात्कालिक समाजविद् लोककल्याण के प्रति अत्यधिक सजग थे।

4. राजा प्रजा पर न्यायपूर्वक ही कर लगा सकता था। आवश्यकता से अधिक व अन्यायपूर्वक कराधान का निषेध किया गया है।

5. दण्ड विधान के लिए भी राजा की पात्रता सुनिश्चित की गयी है कि पवित्र व सत्यनिष्ठ राजा शास्त्रोक्त मार्ग का अवलम्बन करके ही उचित दण्ड विधान करने में समर्थ हो मकता है, अन्यथा नहीं।

सन्दर्भ

1. महाभारत – शान्तिपर्व – 63/25-29 – एवं धर्मान् राजधर्मेषु सर्वान् सर्वावस्थं संप्रलीनान्निबोध मज्जेत् त्रयी दण्डनीतौ हतायां सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विवृद्धाः। सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युः क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु युक्ताः सर्वा विद्या राजधर्मेषु चोक्ताः सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः सर्वे धर्मा राजधर्म प्रधानाः।

2. विष्णुधर्मसूत्र – 3/33 – स्वाम्यमात्यदुर्गकोशदण्डराष्ट्रमित्राणि प्रकृतयः।
स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्र कोशदण्डौ सुहृत्तथा।
मनुस्मृति-9/294 – सप्तप्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते।।
कौटिलीय अर्थशास्त्र- 6/1/1 – स्वाम्यमात्यजनदुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतयः।
महाभारत-शान्तिपर्व- 69/64-65 – राज्ञा सप्तैव रक्ष्याणि तानि चैव निबोध मे।
आत्मामात्याश्च कोशाश्च दण्डो मित्राणि चैव हि।।
तथा जनपदाश्चैव पुरं च कुरुनन्दन।
एतत् सप्तात्मकं राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नतः।।

3. कौटिलीय अर्थशास्त्र – 8/1,2 – तत्कूटस्थानीयो हि स्वामीति।
राजा राज्यमिति प्रकृतिसंक्षेपः।।

4. महाभारत-शान्तिपर्व- 67/59 – राजा प्रजानां प्रथमं शरीरं प्रजाश्च राजोऽप्रतिमं शरीरम्।
राजा विहीना न भवन्ति देशाः देशैर्विहीना न नृपा भवन्ति।।

5. मनुस्मृतिः – 7/4, 5 – इन्द्रनिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः।।
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्रभ्यो निर्मितो नृपः।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा।।

6. बुधस्मृतिः -40 – तस्य धर्मो विनीतोऽव्यसनी।

7. लघुहारीतस्मृतिः – 2/4 – नीतिशास्त्रार्थकुशलः सन्धिविग्रहतत्त्ववित्।
देवब्राह्मणभक्तश्च पितृकार्यपरस्तथा।।

8. गौतमस्मृतिः – 11/1 – राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जं साधुकारी स्यात् साधुवादी त्रय्यामान्वीक्षिक्याञ्चाभिविनीतः शुचिर्जितेन्द्रियोगुणवत्सहायोपायसम्पन्नः समः प्रजासु स्याद्धितञ्चासां कुर्वीत तमुपर्यासीनमधस्था उपासीरन्नन्ये ब्राह्मणेभ्यस्तेऽप्येनं मन्येरन्।

9. मनुस्मृतिः - 7/44 - इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः।।

10. मनुस्मृतिः - 7/45-48 - दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत्।।
कामजेषु प्रसक्तौ हि व्यसनेषु महीपतिः।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनेव तु।।
मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः।।
पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यांसूयार्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोष्टकः।।

11. अत्रिसंहिता-28 - दुष्टस्य दंडः सुजनस्य पूजा न्यायेन कोषस्य च संप्रवृद्धिः।
अपक्षपातोऽर्थिषु राष्ट्ररक्षाः पंचैव यज्ञाः कथिता नृपाणाम्।।

12. अत्रिसंहिता-17 - ये व्यपेताः स्वधर्मेभ्य परधर्मे व्यवस्थिताः।
तेषां शास्तिकरो राजा स्वर्गलोके महीयते।।

13. बुधस्मृतिः - 34 - विहितमकुर्वन्तो राज्ञा कारयितव्याः।।

14. गौतमस्मृतिः - 11/2 - वर्णानाश्रमांश्च न्यायतोऽभिरक्षेच्चलतश्चैनान् स्वधर्मे स्थापयेद्धर्मस्थो ह्यंशभाग्भवतीति विज्ञायते।

15. विष्णुप्रोक्तधर्मशास्त्र - 4/104 - दानमध्ययनं यज्ञं ततो योगनिषेवणम्।
ब्राह्मणानां च संतुष्टिमाचरेत्सततं तथा।।

16. याज्ञवल्क्य स्मृतिः - आचाराध्यायः - 334 - प्रजासु च यथा पिता।

17. अत्रिसंहिता - 29 - यत् प्रजापालने पुण्यं प्राप्नुवन्तीह पार्थिवाः।
न तु क्रतुसहस्रेण प्राप्नुवन्ति द्विजोत्तमाः।।

18. विष्णुप्रोक्तधर्मशास्त्र - 4/103 - क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानां परिपालनम्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन रक्षयेन्नृपतिः प्रजाः।।

19. लघुहारीतस्मृतिः - 2/2 - राज्यस्थः क्षत्रियश्चापि प्रजा धर्मेण पालयन्।
कुर्यादध्ययनं सम्यग् यजेद्यज्ञान् यथाविधि।।

20. याज्ञवल्क्य स्मृतिः - आचाराध्यायः - 336 - चाटतस्करदुर्वृत्तमहासाहसिकादिभिः।
पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत्कायस्थैश्च विशेषतः।।

21. याज्ञवल्क्य स्मृतिः - आचाराध्यायः - 337 - अरक्ष्यमाणाः कुर्वन्ति यत्किंचित्किल्विषं प्रजाः।
तस्मात्तु नृपतेरर्थं यस्मादृगृह्णात्यसौ करान्।।

22. याज्ञवल्क्य स्मृतिः - आचाराध्यायः - 341 - प्रजापीडनसंतापात्समुद्भूतो हुताशनः।
राज्ञः कुलं श्रियं प्राणांश्चाऽदग्ध्वा न निवर्तते।।

23. याज्ञवल्क्य स्मृतिः - आचाराध्यायः - 342 - य एव नृपतेर्धर्मः स्वराष्ट्रपरिपालने।
तमेव कृत्स्नमाप्नोति परराष्ट्रं वशं नयन्।।

24. अत्रिसंहिता - 24 - ब्राह्मणान् वेदविदुषः सर्वशास्त्रविशारदान्।
तत्र वर्षति पर्जन्यो यत्रैतान्पूजयेन्नृपः।।

25. विष्णुप्रोक्तधर्मशास्त्र - 4/105 - तेषु तुष्टेषु नियतं राज्यं कोशश्च वर्द्धते।
वाणिज्यं कर्षणं चैव गवां च परिपालनम्।।

26. लघुहारीतस्मृतिः - 2/3 - दद्याद् दानं द्विजातिभ्यो धर्मबुद्धिसमन्वितः।
स्वभार्यानिरतो नित्यं षड्भागार्हः सदा नृपः।।

27. मनुस्मृतिः - 7/128-30 - यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम्।
तथा बेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सनत करान्।।
तथाल्पाल्पमदन्त्याद्यै वायोकोवत्सषट्पदाः।
तथाल्पापो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिक करः।।
पञ्चाशद् भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययो।
धान्यानामष्टमो भागः षष्टो द्वादश एव वा।।

28. गौतमस्मृतिः - 10/4 - राज्ञे वलिदानं कर्षकैर्दशममष्टमं षष्ठं वा।

29. याज्ञवल्क्य स्मृतिः - आचाराध्यायः - 340 - अन्यायेन नृपो राष्ट्रात्स्वकोशं योऽभिवर्धयेत्।
सोऽचिराद्विगतश्रीको नाशमेति सबान्धवः।।

30. गौतमस्मृतिः - 10/2 - राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानां न्याय्यदण्डत्वम्।

31. गौतमस्मृतिः - 11/6 - तेनादान्तान् दमयेत्।

32. मनुस्मृतिः - 7/15, 16 - तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि।
भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्नचलन्ति च।।
तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः।
यथार्हतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु।।

33. मनुस्मृतिः - 7/19, 20 - समीक्ष्य च धृतः सम्यक्सर्वारञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः।।
यदि न प्रयतेद्राजा दण्डंदण्ड्येष्वतन्द्रितः।
शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्वलान्बलवत्तरा।।

34. मनुस्मृतिः - 7/30, 31 - सोऽसहायेन मूढ़ेन लुब्धेनाकृत बुद्धिना।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च।।
शुचिना सत्यसंधेन यथाशास्त्रानुसारिणा।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता।।

35. याज्ञवल्क्य स्मृतिः - आचाराध्यायः - 355 - स नेतुं न्यायतोऽशक्यो लुब्धेनाकृतबुद्धिना।
सत्यसंधेन शुचिना सुसहायेन धीमता।।

36. याज्ञवल्क्य स्मृतिः - आचाराध्यायः - 356 - यथाशास्त्रं प्रयुक्तः सन् सदेवासुरमानवम्।
जगदानन्दयेत्सर्वमन्यथा तत्प्रकोपयेत्।।

37. याज्ञवल्क्य स्मृतिः - आचाराध्यायः - 357 - अधर्मदण्डनं स्वर्गकीर्तिलोकविनाशनम्।
सम्यक्तु दण्डनं राज्ञः स्वर्गकीर्तिजयावहम्।।

38. याज्ञवल्क्य स्मृतिः - आचाराध्यायः - 358 - अपि भ्राता सुतोऽध्यों वा श्वशुरो मातुलोऽपि वा।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति धर्माद्विचलितः स्वकात्।।

भारतीय वाङ्मय में भाषा, साहित्य और संस्कृति

रेनू यादव*

कुछ शब्द ऐसे होते हैं, जिन्हें परिभाषा के दायरे में नहीं बाँधा जा सकता संस्कृति भी उनमें से एक है, अत्यन्त व्यापक और गतिमान होने से इसे किसी सीमा में बाँधकर परिभाषिक रूप से इस पर विचार करना उपयुक्त भी नहीं है। भारतीय साहित्य में संस्कृति की अवधारणा बड़ी प्राचीन है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह शब्द संस्कृत की 'कृ' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय और 'सम्' उपसर्ग जोड़ने से निष्पन्न है जिसका मूल अर्थ है-किया गया कार्य, व्यवहार, आचार आदि, अर्थात मानव जीवन के विकास और परिष्कार को ध्यान में रखकर किए गए क्रिया कलापों का लेखा जोखा।

संस्कृति का प्रयोग व्यापक और संकीर्ण-इन दो अर्थों में होता है। व्यापक अर्थ में इसका प्रयोग 'नर विज्ञान' में मिलता है जहाँ इसे सभ्यता का पर्याया माना गया है, और कहा गया है कि संस्कृति उस समस्त सीखे हुए व्यवहार का नाम है जो हमें सामाजिक परम्परा से प्राप्त होता है। इसके विपरीत संकीर्ण अर्थ में यह व्यक्तित्व को परिष्कृत करने वाले एवं समृद्ध बनाने वाले गुणों का समुदाय मानी जाती है।

संस्कृति वह ज्योति है जो एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को सौंपती है, जिससे राष्ट्रीय जीवन की परम्परा बनी रहे।

श्री प्रभुदयाल मीतल ने संस्कृति पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि -''संस्कृति किसी भी देश, जाति या समाज की आत्मा होती है, जिसमें उक्त देश, जाति या समाज के चिन्तन मनन, आचार-विचार, रहन-सहन, बोली-भाषा, भेष-भूषा, कला-कौशल आदि सभी बातों का समावेश होता है।

संस्कृति जिन्दगी का एक तरीका है, और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं इसलिए जिस समाज में हम जी रहे हैं या जिस समाज में हमने जनम लिया है उसकी संस्कृति हमारी संस्कृति है। इस दृष्टि से संस्कृति वह चीज है जो हमारे जीवन को ब्यापे हुए है तथा जिमकी रचना और विकास में सदियों के अनुभव का हाथ है। विचार

*शोध छात्रा, संस्कृत एवं प्राकृत भाषा विभाग, दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

और कर्म के क्षेत्र में राष्ट्र का जो सृजन है वही उसकी संस्कृति है।

यदि थोड़े शब्दों में चाहे तो कह सकते हैं कि संस्कृति वह समष्टि है जिसमें ज्ञान, विज्ञान, कला, नैतिक गुण, कानून रिवाज और सामाजिक सदस्य के रूप में मनुष्य द्वारा उपलब्ध कोई अन्य सामर्थ्य और आदतें आती हैं तथा संस्कृति हमारा आर्थिक विकास और नैतिक उन्नति है। हमारा वह व्यवहार है जो एक दूसरे के साथ करते हैं। हमारी वह शक्ति है, जिससे हम दूसरों को समझ पाते हैं। यह वह अखण्ड ज्योति है जो सतत प्रज्वलित रहते हुए हमारा मार्ग प्रशस्त करती है।

संस्कृति के विविध आयाम :-

संस्कृति मूलतः इतिहास का अंग है किन्तु इसका क्षेत्र अत्यंत व्यापक है, इसमें भाषा, साहित्य, समाज, संगीत कला, धर्म दर्शन, राजनीति, लोकवार्ता, आदि सभी का समावेश होता है।

संस्कृति का साहित्य से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है, संस्कृति समाज की आत्मा और साहित्य समाज का हृदय है। इसमें जहाँ समाज के दर्शन होते हैं, वहीं परोक्ष रूप से संस्कृति की भी झलक मिलती है। साहित्य का जन्म संस्कृति से ही होता है। साहित्य संस्कृति के विकास में अपूर्व योग देता है। संस्कृति की अभिव्यक्ति साहित्य में होती है तो साहित्य के द्वारा संस्कृति का पोषण भी होता है। साहित्य जहाँ जीवन का प्रतिनिधित्व करता है वहाँ उसका संचालक भी है। जहाँ वह संस्कृति का चित्र खींचता है वहाँ इसे प्रेरण भी देता है संस्कृति में सभी सत् सत्व साहित्य में संरक्षण पाते हैं, जिनका अध्ययन एवं अनुशीलन अध्येता के अन्दर विचारों को उत्तेजित करता है और परिणामतः चिन्तन का क्षेत्र उर्वर बनता है। साहित्य संस्कृति का वाहक है, साहित्य कवि की अन्तरतम हृदय भूमि से उत्पन्न हुआ संस्कृति का ही संदेश वहन करता है। संस्कृति के सभी अंग साहित्य द्वारा ही अभिव्यक्ति पाते हैं जो साहित्य का उद्देश्य है, वही संस्कृति का भी। संस्कृति साहित्य की जन्मदात्री है इस नाते साहित्य भी संस्कृति के विकास में योग देता है। किसी देश या जाति की संस्कृति का उचित संरक्षण आदि उस देश या जाति के साहित्य में ही होता है। किसी भी देश या युग की संस्कृति को समझने के लिए उस देश या युग के साहित्य को समझना नितान्त आवश्यक होता है, संस्कृति की समस्त ज्ञान एवं बुद्धि की चेतना साहित्य में ही सुरक्षित तथा कायम रह सकती है।

साहित्य तथा संस्कृति दोनों का विकास अविछिन्न गति से होता रहता है। वह कहीं रूका भले ही रह जाए लेकिन उसके विकास की गति कभी भंग नहीं होता। साहित्य जहाँ संस्कृति मे जुड़ा है वही समाज से भी। साहित्य ही ऐसा है जो लड़खड़ाते युग को पुनर्जीवन प्रदान कर सकता है वह युग का प्रतिबिम्ब होता है समाज के विविध विकृतियों के कारण कुंठित हो जाने, उसकी चेतना निष्क्रिय हो जाने तथा उसकी आत्मा के कलुषित हो जाने की स्थिति में साहित्य ही समाज को नयी चेतना और नया जीवन देता है। इसलिए साहित्य को समाज की जीवन दायिनी शक्ति कहा जाता है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अतः उसकी संस्कृति का विकास सामाजिक व सामहिक रूप में ही होता है। संस्कृति ही समाज में विकास का दिशा निर्धारण करती हैं। जब किसी समाज के अधिकांश व्यक्ति अच्छे चरित्र और स्वभाव वाले, स्वावलम्बी, परिश्रमी और एक दूसरे के प्रति सद्भावना और सहानुभूति रखने वाले हो तो वह समाज निरन्तर उन्नति करता रहता है, उसका खासकर नैतिक स्तर ऊँचा होता है। वह समाज सुसंस्कृत समाज कहलाता है और उसकी संस्कृति ऊँचे दर्जे की मानी जाती है।

इस प्रकार संस्कृति का समाज और साहित्य से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। संस्कृति तथा साहित्य दोनों का विकास समाज के अन्तर्गत ही होता है। समाज से अलग हटकर न तो साहित्य की कल्पना की जा सकती है और न संस्कृति की ही। साहित्य में हमें जहाँ समाज के दर्शन होते हैं वही उसमें परोक्ष रूप से संस्कृति की भी झलक मिलती है। संस्कृति का जन्म समाज से हुआ है इसलिए इसे 'समाज की उपज' कहा जा सकता है। ये समाज की आत्मा एवं इसका व्यक्तित्व है।

संस्कृति ही ऐसी है जो समाज को विश्रृंखलित होने से बचाती है। यदि संस्कृति ही न रहे तो समाज विखर जाए। संस्कृति की सुदृढ़ नींव पर ही समाज की भव्य इमारत खड़ी है।

संस्कृति एवं साहित्य का भाषा से भी अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। भाषा के अभाव में साहित्य एवं संस्कृति की कल्पना भी नहीं की जा सकती अर्थात भाषा साहित्य एवं संस्कृति का अभिन्न अंग है। साहित्य रचना के लिए भाषा का होना नितान्त आवश्यक है। भाषा के अभाव में साहित्य का सृजन सम्भव नहीं है। भाषा रूपी ज्योति के बिना संसार घोर अन्धकारमय है अर्थात् मानव अपने भावों को व्यक्त करने के लिए जिस सार्थक, मौखिक या लिखित साधनों को अपनाता है वह भाषा है। भाषा ही संसार की सर्वोत्कृष्ट ज्योति है जो मानव के हृदय के अन्धकार को दूर करती है यह ज्ञान ज्योति ही विश्व के समस्त मानवों का कार्य-कलाप सिद्ध करती है। यह कल्पना भी नहीं की जा सकती है कि भाषा के बिना मानव की क्या दयनीय स्थिति होती। भाषा विश्व की सबसे महान शक्ति सम्पन्न वस्तु है। भाषा में वह शक्ति है कि नवीन सृष्टि की रचना कर दे। वह निष्प्राण समाज में चेतना फूँक देती है और हतप्रभ में क्रान्ति ला देती है। ऋग्वेद में इसको वायु के तुल्य सर्वगामी शक्ति बताया गया है। इसे विश्व की रचना का श्रेय दिया गया है।

भाषा का अध्ययन भाषा विज्ञान के अन्तर्गत किया जाता है अतः भाषा विज्ञान का अंग है। भाषा विज्ञान, भाषा के अध्ययन के लिए (जीवित भाषाओं के जीवित रूप को छोड़कर) सारी सामग्री साहित्य से लेता है। यदि आज संस्कृत, अवेस्ता या ग्रीक साहित्य हमाने सामने न होता तो किस आधार पर भाषा विज्ञान यह कह या जान पाता कि तीनों भाषाएं किसी एक मूल भाषा से निकली है। सत्य तो यह है कि केवल जीवित भाषाओं के अध्ययन को छोड़कर पुरानी या मृत भाषा का भाषा विज्ञान चाहे जिस रूप में अध्ययन करना चाहे उसे पग-पग पर साहित्य की सहायता लेनी पड़ती

है और जीवित भाषा के सम्बन्ध में क्यों, कब, और कैसे आदि के उत्तर के लिए उसे साहित्य की ही छानबीन करनी पड़ेगी।

इस प्रकार साहित्य एवं भाषा दोनों ही एक दूसरे के सहायक हैं। भाषा संस्कृति की ही उपज है अर्थात् संस्कृति समाज का प्राण है अत: उसका भी प्रभाव भाषा पर पड़ता है और उसके कारण भाषा में विकास होता है। सांस्कृतिक संस्थाएँ प्राचीन शब्दों को एक बार फिर ला देती है साथ ही विचार में भी परिवर्तन कर देती है, जिससे अभिव्यक्ति की शैली आदि प्रभावित होती है। दो या उससे अधिक संस्कृतियों के सम्मेलन से भी भाषा पर प्रभाव पड़ता है। व्यापार राजनीति तथा धर्म प्रचार आदि के कारण भी कभी-कभी दो संस्कृतियों का सम्मेलन होता है। इसका भाषा का विकास या परिवर्तन पर प्रभाव पड़ता है। जैसे आष्ट्रिको और द्रविड़ों का, द्रविड़ों और आर्यों का भारतीयों और मुसलमानों का साहित्य एवं भाषा अलग-अलग रूपों में दृष्टिगत होते हैं।

संस्कृति का धर्म से भी बड़ा गहरा सम्बन्ध है यद्यपि यह अपनी अभिव्यक्ति कला एवं साहित्य के माध्यम से पाती है लेकिन इसका प्रतिविम्ब धर्म और वासना में ही झलकता है।

संस्कृति का दर्शन से भी बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है श्री वाचस्पति गैरोला के अनुसार-''संस्कृति की समग्रता की खोज करने के लिए उसके विचार साहित्य का अनुशीलन आवश्यक होता है। दर्शन ही इस विचार साहित्य के आगार हैं, संस्कृति की गहनता, गम्भीरता, विशालता, स्थिरता, और प्राचीनता आदि विभिन्न पहलुओं का सम्यक विश्लेषण दर्शन साहित्य में ही निहित होता है''।

संस्कृति का धर्म और दर्शन की तरह कला से भी गहरा सम्बन्ध है। डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में-''कला मनुष्यत्व की उपज है, मनुष्यत्व की उद्‌बोधक है और मनुष्यत्व की विजय ध्वजा है। कला का प्रयोजन है कि वह मनुष्य को मनुष्य बनाये उसे पशु के सामान्य धरातल से ऊपर उठाये। स्थूल जीवन में संस्कृति की अभिव्यक्ति कला को जन्म देती है। कला का सम्बन्ध जीवन के मूर्तरूप से है। संस्कृति को मन और प्राण कहा जाए तो कला उसका शरीर है। संस्कृति इसलिए आवश्यक है कि भविष्य में विचारों की दासता से मानव की रक्षा हो और कला इसलिए आवश्यक है कि यन्त्र की दासता से मनुष्य अपने को बचा सके।

लोकवार्ता और संगीत के माध्यम से संस्कृति का स्वरूप सुरक्षित रहता है। लोकवार्ता का जनम जनता के मानस में होता है। यदि संग्रह किया जाए तो इस आधार पर स्थान या देश विशेष से निवासियों की अतीत से लेकर अब तक की बौद्धिक, नैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्था का एक सम्पूर्ण चित्र हमारे सामने उपस्थित हो जाएगा। संगीत के माध्यम से ही संस्कृति स्थायित्व प्राप्त करती है और साथ ही गति भी।

संस्कृति का प्रसार मात्र धर्म, दर्शन कला तक ही सीमित नहीं है वरन् इसका सम्बन्ध व्यक्ति

कुल, समाज, जाति तथा राष्ट्र से भी है। यह व्यक्ति कुल, जाति, समाज तथा विश्व भर के समक्ष आदर्शों की प्रतिष्ठा करती है। ये आदर्श परम्परा में परिचालित तथा पोषित होकर अनेक पीढ़ियों तक चलते रहते हैं और आगे आने वाली संतति को प्रेरणा भी देते रहते हैं।

संस्कृति जीवन के संवर्धन का सबसे पोषक तत्व तथा जीवन की समग्रता का दर्शन कराने वाला प्रकाशपुंज है। राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, विज्ञान एवं प्रविधि, सभी को आत्मसात् करते हुए संस्कृति एक ऐसा व्यापक एवं विस्तृत परिवेश प्रस्तुत करती है। जहाँ मानव मन अपने विकास की ऊँची उड़ान भर सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृति के विविध आयाम है। इसका विस्तार मात्र साहित्य, समाज, राष्ट्र, परिवार, दर्शन, कला इत्यादि तक ही सीमित नहीं है वरन इसका विस्तार तो सम्पूर्ण जीवन में है, जीवन का कोई अंग इससे अछूता नहीं है।

भाषा, साहित्य और संस्कृति चिरपरिवर्तनशील है। परिवर्तन इस सृष्टि का नियम है। यहाँ की प्रत्येक वस्तु परिवर्तित होती रहती है अतः भाषा साहित्य एवं संस्कृति भी इसके अपवाद नहीं है। प्रत्येक युग की समाज और परिस्थितियों और जीवन मूल्यों के अलग-अलग होने के कारण उन्हीं के अनुसार प्रेरणाएँ और प्रयोजनों में भी बदलाव हुआ करता है और इसी के साथ ही साहित्य संस्कृति एवं भाषा की प्रवृत्तियाँ भी बदलती रहती है। इस प्रकार संस्कृति परिवर्तनशील है तथा भाषा एवं साहित्य उसके अभिन्न अंग हैं।

अतः संस्कृति के परिवर्तनशील होने के कारण प्रत्येक युग का भाषा और साहित्य भी परिवर्तित होता रहा है। ये तीनों समाज में ही संरक्षण एवं विकास पाते हैं अतः भाषा का प्रयोक्ता मनुष्य और उसका समाज परिवर्तित होता रहता है और उसके साथ-साथ उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा भी परिवर्तित होती रहती है। प्रत्येक युग का साहित्य किसी न किसी भाषा में ही लिखा गया है वैदिक साहित्य संस्कृत में, बौद्ध साहित्य पाली में जैन साहित्य प्राकृत में इस्लाम आदि साहित्य अरबी में अतः संस्कृति बदलती है तो भाषा साहित्य सब बदल जाता है। इस प्रकार भाषा साहित्य कला सबका समावेश संस्कृति के अन्तर्गत होता है। ये सब संस्कृति के विभिन्न अवयव है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृति साहित्य भाषा और समाज का आपस में बड़ा गहरा सम्बन्ध है ये सब एक दूसरे के अभिन्न अंग होने के नाते एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित या पूरक हैं। जिस प्रकार किसी राष्ट्र या देश के साहित्य से उसका समाज कभी अलग नहीं किया जा सकता उसी प्रकार उस देश या राष्ट्र के साहित्य से उसकी भाषा एवं संस्कृति को कोई भी अलग नहीं कर सकता।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

- जयरामन, डा. पी. - भक्ति के आयाम, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली-110002
- उपाध्याय, बलदेव - संस्कृत साहित्य का इतिहास
- गैरोला, वाचस्पति - संस्कृत साहित्य का इतिहास
- द्विवेदी, डा. कपिलदेव - भाषा विज्ञान एवं भाषा शास्त्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी।
- तिवारी, भोला नाथ - भाषा विज्ञान, किताब महल, 22-ए, सरोजनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद।
- द्विवेदी, वृजेन्द्र कुमार - सामाजिक विज्ञान माध्यमिक शिक्षा परिषद, उ.प्र., इलाहाबाद द्वारा अधिकृत प्रकाशक, राजीव प्रकाशन, 123, स्वामी विवेकानन्द मार्ग, इलाहाबाद।

चुनाव सुधार : वर्तमान परिदृश्य

अविनाश प्रताप सिंह* एवं मिथिलेश कुमार त्रिपाठी**

भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र है जहाँ जनता के द्वारा जनता के लिए जनता में से प्रतिनिधि चुने जाते हैं। इसके लिए स्वतंत्र निष्पक्ष चुनाव आयोजित किये जाते हैं जिसके लिए भारत के संविधान के अनच्छेद 324 से 329 में चुनाव आयोग की स्थापना की गई है जिसका कार्य चुनाव का पर्यवेक्षक और नियुत्रण कर भारत में चुनाव सम्पन्न कराना है। इसके लिए चुनाव आयोग को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया है।[1]

चुनाव लोकतांत्रिक शासन का आधार है। स्वतंत्र एवं निष्पक्ष चुनाव व्यवस्था लोकतंत्र को स्थापित और परिपक्वता प्रदान करती है। काफी समय से देश में चुनाव सुधारों की मांग की जा रही है। चुनाव के दौरान अपनाये जाने वाले भ्रष्ट तरीकों को समाप्त करने का प्रश्न सरकार के समक्ष काफी समय से विचाराधीन रहा है। पिछले वर्षों में हुए अनुभवों में चुनाव सुधार की तात्कालिकता पर जोर दिया गया है।[2]

चुनाव आयोग बिना किसी सरकारी दबाव के स्वतंत्र एवं निष्पक्ष होकर कार्य करे इसलिए इसे स्वायत्तता प्रदान की गयी है। सम्पूर्ण भारत में चुनाव कराना चुनाव आयोग के लिए गम्भीर चुनौती है। हमारे देश में जनता सीधे संवैधानिक मुखिया जैसे राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, राज्यपाल को नहीं चुनती बल्कि जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के द्वारा उनका चुनाव अथवा चयन किया जाता है। इस प्रकार भारत में प्रतिनिधि लोकतंत्र अथवा अप्रत्यक्ष लोकतंत्र स्थापित है जहाँ पर जन भागीदारी के आधार पर सार्वजनिक मामलों में सर्वसाधारण नागरिकों की सक्रिय भूमिका रहती है।

हमारे देश में चुनाव सुधारों की अत्यधिक आवश्यकता है जिसके लिए सर्व प्रथम प्रत्येक व्यक्ति के लिए मतदान किया जाना अनिवार्य होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति का नाम उसके वयस्क होते ही अपने आप मतदाता सूची में आ जाना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति मतदान करे इसके लिए जरूरी है कि इण्टरनेट से वोटिंग की सुविधा दी जाय। प्रत्येक व्यक्ति को उसका गोपनीय कोड देकर इण्टरनेट से वोटिंग करायी जाय। प्रत्येक व्यक्ति मताधिकार का प्रयोग करे इसके लिए जरूरी है कि

*प्रवक्ता, राजनीति विज्ञान विभाग, महाराणा प्रताप स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जंगल धूसड़, गोरखपुर
**प्रवक्ता, राजनीति विज्ञान विभाग, प्यारी देवी गाजित पी.जी. कालेज तिलौरा, सहजनवाँ, गोरखपुर

बहुत छोटे-छोटे पोलिंग बूथ बनाये जाय। मुहल्ले, गाँव-गाँव तथा एक हजार की जनसंख्या पर एक पोलिंग बूथ बनाया जाय जिससे लोगों को आवागमन पर अधिक खर्चा न करना पड़े तथा उसके व्यवसाय एवं व्यापार पर बाधा न पहुँचे बहुत कम समय में उन्हें अपने मताधिकार का प्रयोग करने का समय मिल जाय।

चुनाव आयोग को चुनाव के समय फर्जी मतदान को रोकने के लिए अत्यधिक सैन्यबल की आवश्यकता पड़ती है। जो समय पर जनसंख्या के अनुपात के आधार पर प्राप्त नहीं हो पाती इस कारण बाहुबल के आधर पर नेता लोग जनता को डरा कर, बूथ कैप्चरिंग करके, मतदाताओं को लोग लालच देकर वोट को अपने पक्ष में डलवाने का कार्य करते है।

चुनाव में काले धन का अत्यधिक प्रयोग किया जाता है और निर्धारित सीमा से अधिक धन खर्च किया जाता है जिससे मतदाता प्रभावित होते हैं और दोषपूर्ण वोटिंग होती है। इसके लिए जरूरी है कि शासकीय खर्चे से चुनाव सम्पन्न कराया जाय। सरकार के द्वारा ही चुनाव साधन एवं सामग्री प्रदान की जाय।[3]

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् करीब दो दशक तक लोकसभा और विधानसभा चुनाव आमतौर पर साथ-2 ही कराये गये थे अर्थात् केन्द्र एवं विभिन्न राज्यों में एक बार सरकारों का चयन होने के बाद उन्होंने पाँच वर्ष तक काम किया लेकिन यह संतुलन धीरे-धीरे बिगड़ता चला गया। दर असल हुआ यह कि 1968, 1969 में कुछ विधान सभाओं के चुनाव एक साथ कराये जाने की प्रक्रिया रूक सी गयी।[4] वर्तमान में स्थिति यह है कि हर समय कोई न कोई चुनाव होता ही रहता है। चौदहवीं लोकसभा चुनाव के बाद से ही निरन्तर चुनावों का तांता लगा हुआ है। इस प्रकार चुनावों का एक अनवरत दौर जारी रहने से जहाँ एक समय, धन, समय तथा ऊर्जा का अपव्यय होता है वहीं दूसरी ओर राजनीतिक कार्यकर्ताओं को भी हर समय चुनावों में ही उलझे रहना पड़ता है जिस कारण जन सहभागिता तथा विकास कार्य सम्पन्न करने की दर में कमी आती है। साथ ही चुनावों के समय आचार संहिता लागू होने की वजह से विकास कार्यों की गति में कमी आती है। पुलिस, सुरक्षाबल तथा प्रशासनिक अमला भी बार-बार चुनावों को लेकर परेशान रहता है। बार-बार होने वाले चुनावों का एक पहलू यह भी है कि इसकी वजह से केन्द्र की सरकार हमेशा दबाव में दिखती है। कोई भी महत्वपूर्ण फैसला लेने से पहले उसे यह देखना पड़ता है कि कहीं किसी राज्य में चुनाव तो नहीं हो रहे हैं। इसी संदर्भ में प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी ने लोकसभा, विधानसभा तथा पंचायत चुनावों को एक साथ करने का सुझाव दिया है।

राजनीतिक दलों के नेताओं तथा अन्य प्रबुद्ध नागरिकों ने अनेक सुधारों की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट किया है। सुधारों की आवश्यकता एवं उसके स्वरूप के बारे में अनेक मंचों से ठोस विचार सामने आते रहे हैं। सरकार ने चुनाव सुधारों के मुद्दे के बारे में राजनीतिक दलों के नेताओं

के साथ विचार-विमर्श किया।[5] इन सब बातों को ध्यान में रखकर केन्द्र सरकार ने दिसम्बर 1998 में संसद में दो विधेयक पास कराये। एक संविधान संशोधन विधेयक तथा दूसरा जनप्रतिनिधि विधेयक। दोनों विधेयकों द्वारा देश की चुनाव प्रणाली में महत्वपूर्ण एवं व्यापक सुधारों का प्रावधान किया गया है। इन सुधारों को हम कई श्रेणियों में बाँट सकते हैं जैसे- मतदाताओं सम्बन्धी, मतदाता प्रणाली सम्बन्धी, उम्मीदवार सम्बन्धी, चुनाव के दौरान होने वाले भ्रष्टाचार सम्बन्धी, चुनाव आयोग सम्बन्धी, चुनाव खर्च सम्बन्धी, राजनैतिक दल सम्बन्धी आदि।

सबसे बड़ा युगान्तकारी संशोधान मतदाताओं के सम्बन्ध में है। पहले मतदान की उम्र 21 वर्ष हुआ करती थी लेकिन अब उसे 18 वर्ष कर दिया गया है।[6] ऐसा इसलिए कि देश के युवक शिक्षित एवं प्रबुद्ध हैं और इन्हें देश की राजनीतिक प्रक्रिया में सहभागी बनाना श्रेष्यकर होगा।

मतदान प्रणाली में संशोधन यह है कि मतदाता इलेक्ट्रनिक मशीनों के माध्यम से अपने मत का प्रयोग करें। इस प्रक्रिया को अपनाने से जहाँ एक तरफ समय की बचत होगी वहीं दूसरी तरफ मतदान में गड़बड़ियों की सम्भावना कम होगी। 1999 के आम चुनावों में कुछ राज्यों में इलेक्ट्रानिक मशीनों का प्रयोग किया गया।

चुनाव के उम्मीदवारों के संदर्भ में अनेक महत्वपूर्ण सुधार किये गये है। चुनाव नियमावली में अनेक नये अपराध सम्मिलित किये गये है जिनके अनुसार अपराधी चुनाव में उम्मीदवार नहीं बन सकते हैं। जैसे पत्नी के साथ क्रूरता का व्यवहार करने वाले, सती प्रथा अपराध से जुड़े व्यक्ति, दहेज कानून का उल्लंघन करने वाले, साम्प्रदायिक झगड़ा करने वाले अपराधी, विदेशी मुद्रा कानून का उल्लंघन करने वाले अपराधी, नशीली दवाओं तथा सीमा शुल्क का उल्लंघन करने वाले अपराधी और धार्मिक स्थानों का दुरुपयोग करने वाले दण्डित व्यक्ति। इन सब नियमों के पीछे उद्देश्य यह है कि सामाजिक एवं आर्थिक अपराधी चुनाव न लड़ सके अर्थात् अच्छी छवि वाले लोग ही जनता के प्रतिनिधि बन सके।

उम्मीदवार के संदर्भ में एक सुधार यह है कि राज्यसभा और विधान परिषद के चुनाव में उम्मीदवार बनने के लिए कम से कम 10 निर्वाचक अथवा 10 प्रतिशत निर्वाचक उसके नाम का प्रस्ताव करें। ऐसा इसलिए कहा गया है कि केवल वही लोग उम्मीदवार के रूप में आ सकेंगे जो गम्भीरता से चुनाव लड़ने के इच्छुक है। चुनाव के दौरान होने वाली गड़बड़ियों और भ्रष्ट उपायों को रोकने के लिए भी उपाय किये गये हैं। प्रायः मतदान केन्द्रों पर हमला करने या कब्जा करने की शिकायत पहले आती थी। अब यह व्यवस्था कर दी गयी है कि जो लोग मतदान केन्द्र पर हमला करने अथवा उनपर कब्जा करने के दोषी पाये जायेंगे उन्हें छः महीने से तीन वर्ष तक की सजा का प्रावधान किया गया है। साथ ही मतदान केन्द्रों की सुरक्षा के पुख्ता व्यवस्था भी की जाती है जिसमें केन्द्रीय सुरक्षा बल तथा अन्य महत्वपूर्ण उपाय अपनाये गये हैं।

अधिकारों के अभाव में चुनाव आयोग को अपने कर्तव्यों के पालन में कठिनाईयों का सामना करना पड़ता था। अब इन कठिनाईयों को दूर करने के उद्देश्य से चुनाव आयोग के अधिकार बढ़ा दिये गये हैं। एक महत्वपूर्ण सुधार यह है कि जो लोग चुनाव के समय चुनाव ड्यूटी में तैनात किये जायेंगे वे चुनाव अवधि के दौरान और चुनाव सम्बन्धी कार्य करते समय चुनाव आयोग के अनुशासनाधीन रहेंगे।

राजनीतिक दलों के सम्बन्ध में एक नई व्यवस्था यह की गयी है कि उन्हे चुनाव आयोग के पास अपना रजिस्ट्रेशन कराना पड़ेगा। नए नियम के अनुसार ऐसी व्यवस्था होगी कि जो राजनीतिक दल समाजवाद, लोकतंत्र एवं धर्म निरपेक्षता में विश्वास नहीं करते उन्हें चुनाव आयोग पंजीकृत नहीं करेगा। इसके साथ ही चुनाव आयोग के पास अपना रजिस्ट्रेशन करने वाले प्रत्येक राजनीतिक दल को संविधान में निष्ठा रखने का वचन देना होगा।

अतः स्पष्ट है कि चुनाव सुधार ही वह माध्यम है जिससे संविधान निर्माताओं की इस अपेक्षा की शर्त हो सकती है कि भारत में सभी व्यक्ति समान रूप से व गरिमापूर्ण ढंग से प्रतिनिधियों को चुनने व चुने जाने के लिए सक्षम होंगे। चुनाव सुधार के माध्यम से न केवल बेहतर, ईमानदार व प्रतिबद्ध प्रतिनिधि चुनकर जायेंगे, जो पूरी निष्ठा व सक्रियता से सामाजिक, आर्थिक न्याय को अन्तिम जन तक पहुँचायेंगे, वरन सफल चुनाव सुधार के द्वारा ही 'जन का प्रतिनिधि' के प्रति विश्वास व सम्मान बढ़ेगा, जिससे आम नागरिक जन प्रतिनिधि के साथ कंधे से कंधा मिलाकर राष्ट्र निर्माण के कार्य को सुगम बनाने के लिए प्रेरित होंगे। अतः वर्तमान की इस सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति हेतु जहाँ एक ओर विभिन्न समितियों व आयोगों की प्रभावशाली अनुशंसाओं को पूरी ईमानदारी व प्रभावशाली ढंग से लागू करना होगा, वहीं दूसरी ओर विभिन्न राजनीतिक दलों व जन प्रतिनिधियों को प्रेरित करना होगा कि वे अपने कर्तव्य के प्रति संवेदनशील व सत्यनिष्ठ बनकर लोकतंत्र के इस उत्सव को सफल बनाये।

सन्दर्भ –

1. अवस्थी, प्रो. आनन्द प्रकाश - भारतीय राज व्यवस्था, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, 2007, पृ. 392
2. कश्यप, सुभाष - हमारा संविधान, नेशनल बुक ट्रस्ट ऑफ इण्डिया, ए-5 ग्रीन पार्क नई दिल्ली, 2006, पृ. 153
3. राष्ट्रीय सहारा (हस्तक्षेप) गोरखपुर संस्करण, दिनाँक 11 फरवरी 2017
4. दृष्टि करेन्ट अफेयर्स टूडे, अक्टूबर 2016, पृ. 19
5. तिलक, रघुकुल - लोकतंत्र स्वरूप एवं समस्याएं, उत्तर प्रदेश, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1972, पृ. 579
6. शर्मा, अरुण दत्त, कुमार आशुतोष, अरिहन्त पब्लिकेशन (इण्डिया) लिमिटेड, मेरठ, पृ. 576

वेद प्रतिपादित पर्यावरणीय घटक : स्वरूप एवं संरक्षण

दुर्गेश पाण्डेय 'सांकृत्यायन'* एवं सुबोध कुमार मिश्र**

पर्यावरण से तात्पर्य हमारे परितः स्थित उस आवरण से है जो हमें सब ओर से आवृत किये है[1], और जिन्हें हम प्रकृति के घटक कहते हैं। वस्तुतः पर्यावरण एक अविभाज्य समष्टि है तथा भौतिक, जैविक एवं सांस्कृतिक तत्त्वों वाले पारस्परिक क्रियाशील तंत्रों से इसकी रचना होती है। पृथिवी, जल, वायु, आकाश, सूर्य, अग्नि, वृक्ष-वनस्पतियाँ ये सभी पर्यावरण के घटक जीवन हेतु अनिवार्य तत्त्व हैं, अतः स्वस्थ जीवन हेतु इनका शुद्धत्व सर्वथा रक्षणीय है।

यह मान्यता रही है कि वेद ज्ञान के भण्डार हैं, एवं इनमें जगत् से सम्बन्धित समस्त गूढ़ विद्याओं का आरेख सन्निहित है[2], अतः पर्यावरण भी इसका अपवाद नहीं है, प्रकृति के ही क्रोड में लीलारत ऋषियों के लिए प्रकृति के घटक सहज-उपास्य रहे, उन्होंने इन घटकों को 'देवता' कह कर सम्बोधित किया है।[3] 'देव' एवं देवता में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है।[4] देवता का अर्थ है- दिव्य गुणों से युक्त।[5] प्रकृति के घटक अपने दिव्य गुणों से स्वयं प्रकाशित हैं, और निःस्वार्थ भाव से अनुदान प्रदान कर हमारे जीवन को भी स्वास्थ्य-समृद्धि देकर प्रकाशित करते हैं, वेद के बहुसंख्य मंत्रों में ऋषियों की यह अभिलाषा मुखरित हुई है। आर्य जीवन पद्धति का लक्ष्य रहा है कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहना-

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँसमाः।"[6]

यह तभी सम्भव है जब हम शुद्ध वायु, पवित्र जल एवं शुद्ध खाद्य पदार्थ ग्रहण करें, एवं हमारा मन शुद्ध विचारों से युक्त हो। तात्पर्य यह कि पर्यावरण की शुद्धता ही हमें शतायु बना सकती है। वैदिक ऋषि इस रहस्य से परिचित थे। वैदिक काल में प्रकृति के घटक प्रदूषित न होकर अपने शुद्ध स्वरूप में विद्यमान थे, तथापि ऋषियों को यह ज्ञात था कि इनका दूषित होना हानि एवं व्याधि का कारण हो सकता है, अतः वे शुद्ध प्रकृति को शुद्ध रूप में ही संरक्षित रखने हेतु सतत प्रयत्नशील प्रतीत होते हैं। वैदिक साहित्य में पञ्चभूतों के कारणावस्था (मूल प्रकृति) को वाक् कहा गया है जो संवत्सर रूप प्रजापति से अभिव्यक्त कही गयी है[7], यह समस्त प्रजा वाक् से ही निर्मित है,

---

*प्रवक्ता, संस्कृत विभाग, सरदार वल्लभ भाई पटेल कन्या महाविद्यालय, परतावल, महराजगंज

**प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग, महाराणा प्रताप स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जंगल धूसड़, गोरखपुर

बृहदारण्यक प्रतिपादित इस रहस्य में शरीर की पञ्चभूतात्मकता ध्वनित होती है। **'यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे, यत् ब्रह्माण्डे तत्पिण्डे'** के आधार पर बृहदारण्यक ब्रह्माण्ड रूप में इसे 'आधिदैव दर्शन' और पिण्ड में 'अध्यात्म दर्शन' के रूप में व्यक्त करता है।[8] यजुर्वेद में छः उर्वियों की चर्चा है- अग्नि, पृथिवी, जल, वायु, दिन एवं रात्रि। शतपथ में इन उर्वियों की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि वह व्यक्ति कभी आर्त (रोगग्रस्त) नहीं होता जिसकी ये छः उर्वियाँ रक्षा करती हैं।[9] एतदर्थ प्रत्येक कार्य में इनकी शान्ति की कामना अपेक्षित है।[10] अथर्ववेद में शरीरस्थ भूतों के शान्त होने की कामना से ऋषि उन्हें नमन करते हैं।[11] ऋषियों का स्पष्ट मत था कि पृथिवी-जलादि भूतों में भी आत्मा (परमेश्वर) का वास है[12] अतः वे इनकी हिंसा (प्रदूषित करने) की कल्पना भी नहीं करते। इतोऽपि प्रकृति के इन घटकों के प्रति ऋषि-दृष्टि का घटकानुसार स्वरूप निम्नवत् है-

वायु- वायु जीवन का सर्वाधिक निकटस्थ अंग होने के कारण साक्षात् जीवन ही है, इसलिए इसे प्राण कहा गया है।[13] ऋग्वेद में शुद्ध वायु के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि- हे वायु! तुम्हारे पास जो प्राणस्वरूप अमृत की निधि है उससे हमें भी कुछ अंश प्रदान करो।[14] ऋषि की अभिलाषा है कि वायु हमारे हृदय को आनन्दित करता हुआ शुद्ध रूप में प्रवाहित होकर हमारी आयु को बढ़ाये।[15] ऋग्वेद के ही एक अन्य मंत्र में सूर्य से प्रसूत प्राण का वाहक वायु को कहा गया है।[16] वायु इन्द्रादि देवों की भी आत्मा, पञ्चमहाभूतों का बीज स्वरूप और शक्ति स्वरूप है अतः ऋषिगणों के लिए यह स्तुत्य है।[17] वेद वायु को सर्वदोषहन्ता मानता है, वायु के शुद्धत्व के आग्रही ऋषि प्रार्थना करते हैं- हे वायु! तुम ओषधियुक्त होकर प्रवाहित होवो एवं हमारे शरीर में जो दोष हैं उन्हें बाहर ले जाओ क्योंकि तुम सर्वौषधि रूप हो और देवों के दूत बनकर विचरण करते हो।[18] बृहदारण्यक में वायु के इस अगाध महत्त्व के कारण ही 'प्राणव्रत' का विधान करते हुए वायु को कभी अस्त न होने वाला देवता कहा गया है।[19]

जल- ऋग्वेद के अनुसार शुद्ध जल में ओषधि एवं अमृत का वास होता है।[20] वेद का आग्रह है कि हम शुद्ध जल का प्रयोग करें क्योंकि जल में प्रदूषण हरण की दिव्य क्षमता होती है[21], यही नहीं अपितु असत्यभाषण आदि आन्तरिक दुर्गुणों के भी जल से शुद्धि का उल्लेख है।[22] इसीलिए छान्दोग्योपनिषद् में जल को अन्न से श्रेष्ठ कहा गया है।[23] ऋग्वेद की यह मान्यता है कि पवित्र एवं दिव्य आपः ही पावक, शुचि और मधु होने से वनस्पति एवं जीव-जगत् के त्राणकर्ता हो सकते हैं।[24] क्योंकि चे भोजन के परिपाक हेतु तीव्ररस, प्राण, तेज, कमनीयता, शक्ति और पौरुष के साथ अमरत्व के उपादान हैं।[25] तैत्तिरीय संहितानुसार जल प्रथम तत्त्व है[26], इसके अगाध कल्याणकारी महत्त्व से ही यजुर्वेद इसकी हिंसा न करने का आग्रह करता है।[27] ऋग्वेद में विभिन्न स्थानों के जलों से कल्याणकारी होने की कामना की गयी है।[28] अथर्व संहिता का ता आरम्भ ही पवित्र जल के मंगलकारी स्तवन से होता है।[29] इसी प्रकार ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में जल चिकित्सा के भी प्रमाण प्राप्त

होते हैं।[30] इसी प्रकार अथर्वसंहिता का सूक्त 1.33 जल के महत्त्व को स्पष्ट रेखांकित करता है। इसी प्रकार ऋग्वेद में सरस्वती, गंगा आदि नदियों के जल की स्तुति प्राप्त होती है।[31] आर्यजन कुशा (दर्भ) को पवित्र करने वाला स्वीकार करते हैं। जल का इसके द्वारा उत्पल्लवन कर पूजन सामग्री का शोध न किया जाता है, कुशा का प्रदूषण नियंत्रण में स्थान क्या है? यह विचारणीय है।

पृथिवी- भूमि मातृवत् है[32] यह अन्न, जल, फल, ओषधियाँ एवं विविध खनिज पदार्थ प्रदान कर हमारा पोषण करती है।[33] ऋग्वेद के कई मंत्रों में पृथिवी को द्यौ के साथ स्तुति कर उनके कल्याणकारी होने की कामना की गयी है।[34] अथर्ववेद का पृथिवी सूक्त ऋषियों का भूमि के प्रति कृतज्ञता का स्पष्ट निदर्शन है, ऋषि इसके अवदानों के प्रति कृतज्ञ हैं, जगत् का भरण-पोषण करने वाली विश्वम्भरा[35] भूमि के प्रति ऋषि की कामना है कि इसका ऊपरी भाग (मृदा) और आन्तरिक भाग कृमि एवं रोग से रहित हो।[36] यजुर्वेद में कहा गया है कि हे माता! तुम्हें दूषित कर तुम्हारी हिंसा हमारे द्वारा न हो और तुम भी हमारी हिंसा न करो।[37]

वृक्ष एवं वनस्पतियाँ- वृक्ष प्रत्यक्ष देवस्वरूप हैं, यही कारण है कि इनके सार्वभौम महत्त्व को स्वीकार कर पुत्र-तुल्य माना जाता है। ये वायु शोधन एवं ओषधि रूप में रक्षा के साथ भरण-पोषण भी करते हैं।[38] यजुर्वेद में कहा गया कि वनस्पतियाँ हमें शान्ति प्रदान करती हैं।[39] यही कारण है कि ऋग्वेद इनके सदा फलवान होने की कामना करता है।[40] वेद में ओषधियों को प्रसन्नता के साथ फलनेवाली, अफला, अपुष्पा, पुष्पिणी, विविध रूपों में वर्णित कर[41] इनके मधुवत् होने की कामना की गयी है।[42] वेद का निर्देश है कि वृक्ष को जड़ से न काटें अपितु ऐसे काटें कि वह सहस्रांकुर होकर बढ़े।[43] ऋग्वेद वन एवं वनस्पति के संरक्षण का आग्रह व्यक्त करता है।[44]

इसके अतिरिक्त प्रकृति के घटकों के किसी कारण से दूषित हो जाने पर उनके शोधन का उपाय भी वेदों में प्राप्त होता है। वायु प्रदूषण को रोकने हेतु अश्वत्थ एवं पलाश का उल्लेख है।[45] अथर्ववेद में वनस्पतियों द्वारा भी पर्यावरण को शुद्ध रखने का उल्लेख है[46] जिनमें अजशृङ्गी, गुगुल, सहस्रपर्णी, औक्षगन्धी, प्रमोदिनी आदि को हवन कर कीटाणुओं को नष्ट किया जा सकता है। अज शृङ्गी से फंगस आदि जलीय कीटों को नष्ट किया जा सकता है।[47] अथर्ववेद में प्रदूषित जल को शुद्ध करने का उपाय है[48] वहीं यह संकेत है कि अग्नि एवं सोम द्वारा पुष्ट होने (सम्भवतः उबालने के अर्थ में) जल मधुर एवं प्राण से युक्त हो जाता है।[49] सूर्य रश्मि एवं कुशा द्वारा जल को पवित्र करने का उपाय यजुर्वेद में संकेतित है।[50] ऋग्वेद में नदियों के अशुद्ध हो जाने पर उन्हें शुद्ध करने का उल्लेख भी प्राप्त होता है।[51] सूर्य की रश्मियों से कृमि-नाश का उल्लेख अथर्ववेद में भी प्राप्त होता है।[52] मृदा में वायु की न्यूनता होने पर इसकी उर्वरता प्रभावित होती है, यजुर्वेद में उल्लेख है कि मृदा की उर्वरता-वृद्धि के लिए उसे कुछ दिन खाली रखना चाहिए जिससे मातरिश्वा उसे पुनः उर्वरा कर देते हैं।[53(क)]

इसके अलावा वायुमण्डल को शुद्ध रखने का सर्वाधिक वेद प्रशंसित उपाय यज्ञ एवं अग्निहोत्र है।[53(ख)] यज्ञ से अल्पवृष्टि, अनावृष्टि, रोग, अकाल आदि का निदान ऋषियों के लिए सरल-साध्य था। अथर्ववेद के अनुसार प्रात:कृत अग्निहोत्र सायंकाल तक एवं सायंकाल किये गये अग्निहोत्र से प्रात: तक वायुमण्डल शुद्ध रखता है।[54] पदार्थ के रूपान्तरण के विज्ञान से परिचित होने से ऋषियों को ज्ञात था कि घृत, गुगुल, चन्दन, गिलोय, अगुरु आदि तत्त्व अग्नि में होम करने पर वातावरण को वायु से संयुक्त होकर शुद्ध करते हैं।

भूतों की शुद्धि-संरक्षण के साथ सामाजिक पर्यावरण के प्रति भी वेद सचेत है, 'ऋत्' की अवधारणा के द्वारा नैतिक नियमों के प्रति वेद दृढ़ है,[55] सत्य देवत्व का वरण है वहीं झूठ का आश्रय लेनेवाला अमेध्य कहा गया है।[56] आतिथ्य सत्कार का दृढ़ता से प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि बिना अतिथि को भोजन कराये स्वयं भोजन करना अनुचित है।[57] द्वेष, लोभादि का शमन कर साथ-साथ रहने की भावना वेद व्यक्त करता है।[58] पुरुषार्थ चतुष्ट्य की अवधारणा, आश्रम व्यवस्था आदि ऋषियों के मन:शास्त्री होने के प्रमाण हैं। अनैतिकता का वेद दृढ़ता से खण्डन करता है और रिश्तों की मर्यादा का पोषण ही धर्म घोषित करता है।[59] नित्य बुद्धि के सद्मार्गगामी होने की कामना गायत्री मंत्र में[60] एवं मन के शोभन संकल्पों से युक्त होने की भावना शिवसंकल्प सूक्त में व्यक्त हुई है।[61] धनलोलुपों को सावधान करते हुए वेद सर्वत्र ईश्वरत्व की भावना कर त्याग का सन्देश देता है।[62] असत् से सत् और अन्धकार से प्रकाश की तरफ चलना ही वेदत्व की प्रतिष्ठा है।[63]

निष्कर्षत: कह सकते हैं कि वेद पर्यावरण के प्रति पूर्ण सचेत हैं और इसके शुद्ध स्वरूप को अक्षुण्ण रखने का हमें सन्देश देते हैं। प्रकृति का शुद्ध होना ही मानव की शुद्धि का माध्यम है, हम इन्हें पवित्र रखें और इनसे हमारा जीवन पवित्र होता रहे[64] ये मधुमय रहें, हमें मधु प्रदान करें।[65]

सन्दर्भ

1. आप्टे, वामन शिवराम, संस्कृत हिन्दी शब्दकोश, पृ.सं. 162
   परि-आवरण= पर्यावरण। संस्कृत में 'आवरण' शब्द की व्युत्पत्ति है- आ+ वृ+ल्युट् आवरणम् जिसका अर्थ है- ढकना, छिपाना या घेरना।
2. "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" मनुस्मृति- 2.6।।
   य: कश्चित् कस्यचिद् धर्मोमनुना परिकीर्तित:।
   स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञान मयो हि स:।। तत्रैव-2.7।।
3. अग्निर्देवता वातोदेवता सूर्योदेवता चन्द्रमादेवता वसवोदेवता रुद्रोदेवता आदित्यादेवता मरुतोदेवता विश्वेदेवादेवता बृहस्पतिर्देवता इन्द्रोदेवता वरुणोदेवता।।- शु.यजुर्वेद- 14.20
4. 'यो देव: सो देवता' - निरुक्त (दैवत काण्ड) 7.
5. "देवो दानाद्वाद्योतनाद्वा दीपनाद्वा द्युस्थानो भवतीतिवा" - तत्रैव
   अर्थात् जो देता हो (दा+'व' प्रत्यय) जो प्रकाशित हो (दिव+अच्) एवं जो द्युस्थानीय हो वह 'देव' है।

देव+तल्+टाप्=देवता (स्त्रीलिङ्ग में)। इसका अर्थ है- दिव्य, शक्ति, देवत्व आदि -वही, पृ. 474

6. ईशावास्योपनिषद्-3

"पश्येमशरदः शतं जीवेमशरदः शतम्।"- शु. यजु. 36.24।।

7. "यावन्संवत्सरस्तमेतावतः कालस्य परस्ताद्सृजत तं जातमभिव्याददात्स भाणकरोत्सैव वागभवत्।।"

बृ.आ. 1.2.4।।

8. बृहदराण्यक - 1.5.21-22।।

9. "षण्मोर्वरिथ्छंहसस्पान्त्वग्निश्च पृथिवी चापश्चवातश्चाहश्चरात्रिश्चेत्येता मा देवता आर्तेगोपायन्वित्यैवैतदाह तस्यो हि न ह्वालास्ति यमेता देवता आर्तेगोपायेयुः।।" श.ब्रा.- 5.1.22।।

10. द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्ति पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्ति वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्मशान्तिः सर्वथ्छंशान्तिः शान्तिरेवशान्तिः सामाशान्तिरेधिः।। शु. यजु. 36.17

11. सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोअन्तरिक्षमात्मा पृथिवीशरीरम्।

अस्तृतो नमाहमयमस्मि स आत्मानं निदधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय।।- अथर्ववेद- 5.9.7।।

"सूर्याच्चक्षुरन्तरिक्षात् श्रोत्रम्।" - तत्रैव- 5.10.8।।

12. "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्यां अन्तरो.....यस्य पृथिवीशरीरं यः पृथिवीमन्तरोयमत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।।" -बृ.आ. 3.7.3

"आपः शरीरं यो आपोऽन्तरो.....यो वायौतिष्ठन् वायोरन्तरो.....योदिवि तिष्ठन् दिवोऽन्तरो.....यं आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो.....येषत आत्मान्तर्याम्यमृतः।।" तत्रैव, 4-12, "यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्"-तत्रैव 3.7.15

13. "वायुर्हि प्राणः" ऐ.ब्रा.-2.26.3.2।। "प्राणो हि वायु" - ताण्ड्य ब्रा. 4.6.8।।

"यावद्ध्यस्मिन् शरीरे प्राणोवसति तावदायुः।" कौ.उ.-3.3।।

14. यददो वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हितः।

ततो नो देहि जीवसे।। ऋ.वे. 1.186.3।।

15. वात आ वातु भेषजं शम्भुमयोभु नो हृदे।

प्रण आयुषि तारिषत्।। ऋ.वे. 1.186.1।।

16. अपश्यं गोपामनिपद्यमान मा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।

स सध्रीचीः स विषूचीर्वसानावरावर्ति भुवनेष्वन्तः।। ऋ.वे. 1.164.31

17. आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः।

घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम।। ऋ.वे. 10.168.4

18. आ वात वाहि भेषजं विवात वाहि यद्रपः।

त्वं हि विश्व भेषजं देवानां दूत ईषसे।। अथर्ववेद. 4.13.3।।

19. एवमेतासां देवानां वायुर्भ्लोचन्ति हान्या देवता न वायुः

सैषा नस्तमिता देवता यद्वायुः।। बृ.आ. 1.5.22।।

20. "अप्स्वन्तरमृतम् अप्सुभेषजम्" - ऋ.वे. 10.23.19।।

21. ऋग्वेद - 10.17.19।।

22. "यदप उपस्पृशत्यमेध्यो वै पुरुषों यदनृतं वदति तेन पूतिरन्ततो मेध्यावाऽआपो" -श.ब्रा. 1.1.1।।
23. "आपोवान्नाद् भूयः।।" - छा.उ. 7.10.1।।
24. "मधुश्चुतः शुचयो: याः पावकास्ता आपो देवीरिहमामवन्तु।"- ऋ.वे. 7.49.3।।
25. आपोभद्राघृतमिदाय आसन्नग्नीषोमौ विभृत्यायइत्ताः।
तीव्रोरसो मधुपृचामरंगम आ मा प्राणेन सहवर्चसा गमेत्।। -ऋ.वे. 31.15.5।।
26. तै.सं.- 7.1.5.1।। ऋ.वे. 10.129 पर द्रष्टव्य सायणभाष्य।
27. यजुर्वेद
28. या आपो दिव्या उत वा स्रवन्ति खनित्रिमा उत वा याः स्वयंजाः।
समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिहमामवन्तु।। -ऋ.वे. 7.49.2।।
29. शन्नोदेवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शं यो अभि स्रवन्तु नः।। -अथर्ववेद (पैप्पिलाद शाखा)-1.1.1।।
30. आपः सर्वस्य भेषजी: - ऋ.वे. 10.137.6।।
अथर्ववेद - 1.6.4, 6.22, 6.23, 6.24।।
31. "एका चेतत् सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिम्यआ समुद्रात्।।" - ऋ.वे. 7.95.2।।
इमे गङ्गे यमुने सरस्वती शतुद्रि स्तोतं सचता परष्णया।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीयेशृणुह्या सुषोभया।। -ऋ.वे. 10.75.5, तै.आ. 10.1.13।।
32. "माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः" - अथर्ववेद- 12.1.12।।
33. "नाना वीर्या ओषधीर्या विभर्ति पृथिवी नः प्रथतांराध्यतां नः।" -अथर्ववेद -12.1.2।।
"पृथिवी देवी सुमनस्यमानाः" - अथर्व. 11.1.8।।
34. ऋ.वे. 1.160।। "स्वस्ति भूमे नो भव"- अ.वे. 12.1.32
35. "विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा
हिरण्य वक्षो जगतो निवेशनी।" -अथर्ववेद 12.1.6।।
36. तत्रैव, 12.1.62।।
37. "पृथिवीमात मां मा हिंसीर्मोअहंत्वाम" शु.यजु. 10.33।।
38. शु.यजुर्वेद- 12.99, ऋ.वे. 10.97
39. "शयिता नो वनस्पतिः"- शु.यजु. 21.21।।
40. "पयस्वतिरोषधयः" -ऋ.वे. 10.17.14।।
41. ओषधीः प्रतिमोदध्वं पुष्पवती प्रसूवरी। अश्वा इव सजित्वरीर्वीरूधःपारयिष्णवः।।- ऋ.वे. 10.97.3।।
याः फलिनीर्याऽफलाऽपुष्पायाश्चपुष्पिणीः।
बृहस्पति प्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वश्रेहसः।। शु.यजु. 12.89।।
42. "माध्वीर्न सन्त्वोषधीः" "मधुमान्नो वनस्पतिः" -तत्रैव, 13.27-29।।
43. "अतस्त्वं देव वनस्पते शान्तवल्शो विरोह, सहस्रवल्शा विवयंरूहेम।।"- यजुर्वेद 5.43।।
44. "वनस्पति वनं आस्थाप्याध्वम्" ऋ.वे. 10.101.11।।

45. "अश्वत्थ वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।।" ऋ.वे. 10.97.5।।

46. अथर्ववेद 4.37.2-3।।

47. तत्रैव, मंत्र-4

48. तत्रैव, 1.33

49. तत्रैव, 3.13.5

50. शु.यजु. 1.31

51. "शिवा देवीरशिपदा भवन्तु सर्वा नद्यो अशिमिदाभवन्तु"- ऋ.वे. 7.50.3-4

52. उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन हन्तु रश्मिभिः।
तेे अन्तः क्रिमयोगवि।। अ.वे. 2.32.1।।

53.(क) यज.वे. 11.39।।

53.(ख) "उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान यज्ञेन वोधय"-अ.वे. 19.63.1

54. "प्रातः प्रातर्गृहपतिनों अग्निः सायं सायं सौमनसास्य दाता"- अ.वे. 19.55.3।।

55. "ऋतं यते मध्वा" -ऋ.वे. 1.188.2
'नकिरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि' -अ.वे. 18.1.5.

56. "सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्या" श.प. 1.1.5।।
"अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति।।" - तत्रैव, पादटिप्पणी-1

57. "कीर्ति.....यशः.....अश्नाति, यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति।"-अ.वे. 9.6.35।।
"तन्नेवानवक्लृप्तम्। यो मनुष्येष्वनश्वसु पूर्वोऽश्नीयात्।।"-शतपथ ब्रा. 1.1.1.1 पर पाद टिप्पणी

58. "अनुव्रतः पितुः पुत्रो माता भवतु संमनाः।
जायापत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्।।
मा भ्राता भ्रातरंद्विक्षन्मा स्वसारभुत स्वसा।
सभ्यञ्चः सव्रतो भूत्वा वाचं वदत भद्रया।।"-अ.वे. 3.30.1-2।।

59. "अन्यत्र पापीरयवेशयाधियः"-अ.वे. 9.2.25।।
"पापमादुर्य स्वसारं निगच्छात्" (यम की उक्ति), यम-यमी सूक्त- ऋ.वे. 10.10.12।।

60. ऋ.वे. 3.62.10।। शु. यजु. 36.3।।

61. तत्रैव, 34.1.1-6।। "आगन्महि मनसा संशिवेन" अ.वे. 6.53.3

62. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चजगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।। ईशावास्योपनिषद्-1।।
"या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टा अन्यत्रास्महामितरोधा।" अ.वे. 7.115.2।।
"न स्रेधन्तं रयिर्नशत्"-ऋ.वे. 7.32.21।।

63. असतो मा सदगमय तमसो मा ज्योतिर्गमय - वृ.आ. 1.3.28।।
"सत्येनोत्तभिताभूमिः"-अ.वे. 14.1.1।। "सत्याय सत्यं जिन्व"-शु.यजु. 15.6

64. पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसाधिपः।

पुनन्तु विश्वाभूतानि, जातवेदः पुनीहिमा।। -शु.यजु. 19.39।।

पवमानः सो अद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः।

यः पोता स पुनातु मा।। -तत्रैव, 19.42।।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।

यद भद्रं तन्नासुव।। ऋ.वे. 5.82.5, शु.यजु. 30.3।।

65. "मधु जनिषीय मधु वंशिषीय।"-अ.वे. 9.1.14।।

उत्तर आधुनिक विमर्श और समकालीन साहित्य

मुन्ना तिवारी*

''हीरामन बेजार है,
उफ् किस कदर महँगाई है,
आपके दिल्ली में,
उत्तर आधुनिकता आई है,
टी.वी. से अखबार तक हैं,
जिस्म के मोहक कटाव,
ये हमारी सोच है,
ये सोच की गहराई है,
रहनुमां धृतराष्ट्र के,
पदचिन्ह पर चलने लगें,
आप चुप बैठे रहें,
ये कौम की रूसवाई है।''

'अदम गोड़वी'

उत्तर आधुनिक मुख्यतः एक विचारधारा है अर्थात् यह कुछ नई परिस्थितियों को उत्तर-आधुनिक स्थिति का नाम देती है। अब विचारधारा चूंकि प्रधानतः वैचारिक जगत् से संबन्धित होती है और स्वयं यथार्थ का एक हिस्सा होने के साथ-साथ यथार्थ को देखने और तद्नुसार लोगों के अस्तित्व को व्याख्यायित करने का एक हथियार होती है, इसलिए उसकी वैधता की परीक्षा यथार्थ को समझने की जितनी क्षमता वह प्रदान करती है, उसके आधार पर होती है। यदि वह वैध होती है तो हमारे चिंतन और हमारी नजर को पूरी तरह बदल देती है और कोई चाहे या न चाहे, साहित्य भी इससे प्रभावित होता है। इसलिए हिंदी साहित्य पर जिन प्रभावों का शोरगुल मचाया जा रहा है, वे न भी हों तो आगामी दिनों में इसका प्रभाव पड़ेगा ही, यदि वह वैध

*अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी

हुई, और यदि इसने यथार्थ को समझने का कोई कारगर हथियार मुहैया कराया।

इस पद का प्रयोग साहित्य और कला की दुनिया में 'मॉडर्निज्म' से आगे की प्रवृत्तियों के लिए सबसे पहले हुआ। समाजशास्त्र की दुनिया में इस पद का प्रयोग ल्योतार ने सत्तर के दशक में कनाडियाई सरकार की फैलोशिप पर शोध करते हुए आधुनिक समाजों की कुछ नई विशेषताओं को संकेतिक करने के लिए किया। इसमें उत्तर का अर्थ है आधुनिकता के पार जाना। उसके अनुसार आधुनिक पश्चिमी समाजों में संप्रेषण और सूचना-क्रांति और अनेकानेक परिवर्तनों ने इन समाजों को इस प्रकार बदल डाला है कि इनमें रहने वाले लोगों के आचार-व्यवहार को आधुनिकतावादी उपकरणों के सहारे नहीं समझा जा सकता। ये स्थितियाँ 'पोस्ट-मॉडर्न' सिचुएशंस' हैं और ये धीरे-ध ीरे पैदा हो गई हैं। इन्हें समझने के लिए नए उपकरणों की आवश्यकता है। यदि हम इन समाजों को समझने के लिए आधुनिकतावादी उपकरणों का ही प्रयोग करते रहेंगे तो हमारे प्रयास निष्फल होंगे।[1]

आधुनिकता का आधार मानववाद, तर्कनिष्ठा, बौद्धिकता तथा वैज्ञानिकता एवं सार्वभौमिकता है। उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद भी आधुनिकता की ही देन हैं। उत्तर आधुनिकता ने आधुनिकता की सीमाओं को पहचाना है। यह कहीं उसे काटती हैं, कहीं साझेदार है और कहीं आगे भी जा रही है। प्रसिद्ध उत्तर आधुनिकतावादी जाँ-फ्राम्वा ल्योतार (1982) कहते हैं, ''कोई कला कृति उसी समय आधुनिक हो सकती है जब वह पहले उत्तर आधुनिक हो। इस दृष्टि से देखें तो उत्तर आधुनिकता से तात्पर्य आधुनिकता का अंत नहीं बल्कि आधुनिकता का आरम्भ है और आरम्भ की यह स्थिति निरन्तर बनी रहती है।''

उत्तर आधुनिकता आर्थिक, सांस्कृतिक स्थिति है और पूँजीवाद का ही फैलाव है। जॉन मैकगोवान मानते है कि, ''उत्तर आधुनिकतावाद एक ऐसी फिसलनदार पदावली है कि हम उसे आसानी से स्थिर नहीं कर सकते है, वह शिक्षा संस्थानों में तेजी मे पनपती सिद्धांतिकी है या वह महानगरों, उपनगरों का स्थापत्य है या वह सलमान रश्दी या ग्रैबील गासिया मार्केस या एजेल्स कार्टर के नये उपन्यासों के रूप में हैं'' उत्तर आधुनिकतावाद, आधुनिकतावाद को एक योजना के रूप में देखता, परखता है। जहाँ अस्मिता के नाम पर अन्यों का दमन हुआ है। उत्तर आधुनिकता अस्मिता की सम्भावनाओं को ही खारिज करती है। देवेन्द्र इस्सर ने आधुनिकता बनाम उत्तर आधुनिकता को स्पष्ट किया है -

''आधुनिकतावाद तथा उत्तर आधुनिकतावाद न केवल दो अलग-अलग ऐतिहासिक दौरों का प्रतिनिधित्व करते हैं बल्कि दो विभिन्न शैलियों, सांस्कृतिक एवं सौन्यदर्यात्मक बोध तथा वैचारिक संवादों पर आधारित हैं। उत्तर आधुनिकतावाद आधुनिकता के टेक्नों वैज्ञानिक रैखिक विकास, अनवरत प्रगति तथा इतिहास और सार्वभौमिकता तथा अमूर्तता के मुकाबले में इस बात पर बल देता है कि प्राय: लोगों का एक समूह दूसरें समूहों से अपनी मूल संरचनाओं में अलग होता है। ये भिन्न

संरचनायें ही उनकी पहचान बनाती हैं।''[2]

अगर हम उत्तर आधुनिकता के मूल तत्त्वों का अध्ययन करें तो यह साठ के दशक के उन लिबरेशन आन्दोलनों से निकली है जिन्होंने व्यक्ति तथा व्यवस्था, अल्प समूह तथा वृहत्, समाज, विचारों तथा विसंगतियों, मूल्यों तथा विविध विधान, विचारधाराओं, नीतियों, राजनीति, राष्ट्रीयता आदि पर प्रश्न चिह्न लगा दिये। नारी मुक्ति, अश्वेत रोष, शान्ति मार्च, युवा विद्रोह, यौन क्रान्ति और न जाने कितने छोटे-बड़े आन्दोलनों ने विभेदों एवं विकेन्द्रीयता के आन्दोलनों के तहत-समाज तथा संस्कृति को विभिन्न विभाजित स्वायत संरचनाओं और इकाइयों में बदल दिया। 1968 एक ऐसा वर्ष था जो उत्तर आधुनिकतावाद का प्रतिनिधि प्रतीक वर्ष माना जा सकता है। इसी वर्ष फ्रांस में छात्र विद्रोह हुआ और वर्ग संघर्ष के बजाय युवा वर्ग व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष का अग्रिम दस्ता बन गया। इसी समय जाक देरिदा अविरचना (डिकंस्ट्राक्शन) का नारा बुलंद कर चुके थे। संस्कृति या परिदृश्य तथा संवाद के सन्दर्भ बदल गये। नवें दशक तक पहुँचते-पहुँचते उत्तर आधुनिकता का प्रभाव क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया कि कला, साहित्य, संस्कृति, राजनीति तथा समाजशास्त्र के डिस्कोर्स के केन्द्र में आ गई।

यूरोप, अमेरिका में उत्तर आधुनिकता का प्रवेश कोई अधिक पुराना नहीं है। वास्तव में अरनाल्ड टायनबी ने इस पद का प्रयोग सबसे पहली बार किया था। उनका सन्दर्भ ब्रिटेन से था। इसके बाद 1979 में ल्योतार ने अपनी पुस्तक 'दि पोस्ट मॉडर्न कन्डीशन' में सबसे पहली बार इस अवधारणा का प्रयोग किया। उनका कहना था कि उत्तर आधुनिकता वस्तुत: एक जातीय अवधारणा है। कई अन्य समाजशास्त्रीय उत्तर आधुनिकता की अवधारणा को कुछ और सन्देश में देखते हैं। एक अजीब तरह की स्थिति पैदा हो गयी। अर्थ के इस ऊहापोह में केलनेर कहते है - ''उत्तर आधुनिक क्षण आ गया है और इसमें बौद्धिको, कलाकारों तथा संस्कृति उद्यमियों को ऐसी हैरत में डाल दिया है कि समझ में नहीं आता कि वे इसके साथ हो जायें, इसकी रंगरेलियों में भागीदार बन जायें या कहीं किनारे पर बैठ जायें जब तक कि यह सनक किसी फैशन के बुलबुले की तरह समाप्त न हो जाये।''

सुधीश पचौरी बड़ी दृढ़ता के साथ कहते है कि हिन्दी साहित्य में उत्तर आधुनिकता का प्रवेश ही नही हुआ है, वह यहाँ स्थापित हो गयी है। पचौरी एक कदम और आगे बढ़ते है और कहते हैं कि उत्तर आधुनिकता हमारे जीवन में भी प्रवेश की गयी है। उनका कहना है कि, समाज उत्तर आधुनिक स्थितियों में दाखिल हो चुका है। हमारे अनुभव उत्तर आधुनिक बन रहे हैं हमारी बहसों में अचेत रूप में हमारे बदलते हुए जगत के चित्र आने लगे हैं। जिम मेक्गूगन कहते है - उत्तर आधुनिकता एक सांस्कृतिक और ज्ञान मीमांसा की दशा है जिसके परिणामस्वरूप आधुनिक सामाजिक संस्थायें दब जाती हैं और भूमण्डलीय समाज की दिशा की ओर ले जाने वाला एक युगान्तर आता है। इसी तरह रिट्जर ने उत्तर आधुनिकता की अवधारणा की परिभाषा इस तरह दी है

– उत्तर आधुनिकता वह विशाल अवधारणा है जिसमें ऐतिहासिक काल, नवीन सांस्कृतिक तत्त्व और सामाजिक दुनिया के बारे में एक नई तरह का सैद्धान्तीकरण सम्मिलित है।

अत्यधिक सरल शब्दों में, उत्तर आधुनिकता की परिभाषा महान वृतान्तों में अविश्वास करना है। हमें सफलता के विरुद्ध युद्ध छेड़ देना चाहिए, इसकी अपेक्षा हमारी सक्रियता विशिष्टता के प्रति होनी चाहिए। वास्तव में उत्तर आधुनिकता केवल अधिकृत व्यक्तियों का औजार ही नहीं है, इसका लक्ष्य विशिष्टता के प्रति हमें संवेदनशील करना है और वे वस्तुएं जो हमें अनुपयुक्त लगती हैं, उन्हें उदारता के साथ स्वीकार करने की योग्यता उत्पन्न करना है। देरिदा भी एक प्रमुख उत्तर आधुनिकतावादी लेखक है। देरिदा ने उत्तर आधुनिकता को विखण्डनवाद के साथ जोड़ा है। इस अवधारणा का प्रारम्भ साहित्य, कला, फिल्म और समीक्षा के साथ हुआ है। इसका प्रारम्भिक स्वरूप दार्शनिक है, किन्तु बाद में इस दर्शन ने सामाजिक सिद्धान्त के क्षेत्र को प्रभावित किया। विखण्डनवाद ने सर्वाधिक प्रहार विभिन्न क्षेत्र के पूर्व स्थापित एवं चिरपरिचित प्रारम्भिक ग्रन्थों पर किया है। उत्तर आधुनिकतावाद एक सांस्कृतिक पैराडिम अर्थात मॉडल है। यह संस्कृति सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक प्रक्रियाओं से जुड़ी हुई है। इसकी अभिव्यक्ति जीवन की विभिन्न शैलियों में अर्थात् कला, साहित्य, दर्शन आदि में देखने को मिलती है। उत्तर आधुनिकता की संस्कृति को सामाजिक आयोजन और आर्थिक परिवर्तन में देखा जा सकता है। इसकी उपस्थिति प्रत्यक्षवाद, उत्तर संरचनावाद और विखण्डन में भी पायी जाती है।

उत्तर आधुनिकता की प्रकृति विखण्डन की है। यह अनिरन्तरता है। यह समानता की अपेक्षा विविधता को स्वीकार करती है। इसका अर्थ हुआ कि उत्तर आधुनिक समाज विविध होता है और इसमें किसी प्रकार की समानता नहीं होती है। उत्तर आधुनिकता प्रघटनाओं को स्थानीय स्तर पर देखती है। उनका विश्लेषण भी स्थानीय स्तर के कारकों द्वारा किया जाता है।

उत्तर–आधुनिकतावाद का जर्मनी में नीत्शे, हरसल और हाइडेगर से प्रारम्भ माना जाता है। तो फ्रांस में जा–फारवा लियोतार, मिशल फूको, रोलांबार्थ, जां बोट्रीला और जाकदरिदा से पाल द मान के साथ अमेरिकी विज्ञविद्यालयों में पहुंच गया उसके अनन्तर अमेरिकी चिंतकों, मनीषियों के माध्यम से भारत में भी इसकी आहट सुनाई देने लगी और 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में यह साहित्यिक विमर्श का केन्द्र बन गई। आर्नल्ड टायनबी के अनुसार 1925 के लगभग यूरोपीय संस्कृति में उत्तर–आधुनिकता वाद का दौर शुरू हो चुका था। इहाब हसन उत्तर–आधुनिकता के प्रकट होने का समय 1920 के आस–पास बताते है। नब्बे के दशक तक पहुंचते–पहुंचते उत्तर–आधुनिकता का प्रभाव साहित्य, संगीत, कला, संस्कृति, राजनीति तथा समाज आदि के सभी क्षेत्रों में दिखाई देने लगा, फलतः परस्पर विरोधी विचार, जातियाँ–अश्वेत, दलित जन जातियाँ, स्त्रीवर्ग सत्ता की भागीदारी, समाज की सक्रियता तथा संस्कृति संवाद के परिवेश से अलग रखे जाने वाले लोग भी अब वर्चस्व

की लड़ाई नए समूह बनाकर लड़ने लगे।

क्षेत्रीयता, पापुलर कल्चर और लोक-कलाओं का मिलाप, बुद्धिवाद और पराभौतिकवाद पर बढ़ता अविश्वास, नारी तथा दमित, विषयों का अध्ययन, महान आख्यान तथा सार्वभौमिक समालोचना सिद्धांत का पतन, अर्थ की अनेकता तथा अनिश्चितता, बहुलतावाद तथा बहुसंस्कृतिवादी, विकेन्द्रीयता, वर्ग संघर्ष की अपेक्षा नस्ल, जाति तथा लिंग भेद पर अधिक बल अर्थात् ऐसी विचार पद्धति जिसमें वैश्विक क्षेत्रीय तथा जातीय संरचना एक दूसरे से संघर्षरत रहते हुए आपस में मेल-जोल भी रखती हैं।

उत्तर-आधुनिकता, आधुनिकता का अंत नहीं है वरन् उसके अन्दर सदैव ही प्रस्फुटित होने वाली अवस्था में मौजूद है और यह अवस्था शाश्वत रूप से गतिशील है। भारत के साहित्यिक परिदृश्य पर दृष्टिपात किया जाए तो अन्य भाषाओं की अपेक्षा गुजराती, मराठी, सिन्धी, हिन्दी, पंजाबी, कन्नड़, मलयालम में परिवर्तनशील स्थितियाँ और नई अभिवृत्तियाँ अधिक दृष्टिगोचर होती है। सम्पूर्ण भारतीय परिदृश्य के सन्दर्भ में गंभीरतापूर्वक विचार करने पर निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय समाज के कुछ क्षेत्रों में उत्तर-आधुनिकता आ चुकी है और कुछ में यह दस्तक दे रही हैं तथा कुछ क्षेत्रों में अभी आनी शेष है। क्योंकि उत्तर-आधुनिकता एक प्रक्रिया है। अतएव यह हमेशा ही खण्ड-खण्ड रूप में आती है। हेबरमां के शब्दों में- ''भारत में आधुनिकता का प्रोजेक्ट अभी अधूरा है। फिर उत्तर-आधुनिकता कहाँ? ये प्रक्रियाएं है और वैश्वीकरण इन्हें पूरी ताकत से आगे धकेल रहा है। क्या जाने कब भारत उत्तर-आधुनिक के चौखटे पर खड़ा हो जाये''।[3]

सारांशत: आधुनिकतावाद के आधारभूत तत्वों को इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है :-

1. उत्तर-आधुनिकतावाद केन्द्र से परिधि की ओर यात्रा करता है अतएव समाज के हाशिए पर पड़े लोग अब महत्वपूर्ण हो गए है।

2. उत्तर-आधुनिकतावाद वैचारिकता तथा राष्ट्रीयता के बजाए क्षेत्रीयता तथा स्थानीयता को अधिक महत्व देता है।

3. स्थानीयता के महत्व के कारण ही विभिन्न समूहों में प्रभुत्व के लिए संघर्ष शुरू हो गया है। परिणामस्वरूप एकीकृत केन्द्रों के बजाय नए-नए समीकरण अस्तित्व में आ रहे है और ये समीकरण भी निरंतर परिवर्तित होते रहते है।

4. उत्तर-आधुनिकतावाद इस बात पर जोर देता है कि लोगों का समूह प्राय: दूसरे समूहों से अपनी मूल संरचनाओं (रीति-रिवाज) परम्परा, संस्कृति, संवेदना, भाषा, आस्था और विश्वास आदि के कारण भिन्न तथा अलग होता है।

5. इसमें 'हम' और 'अन्य' का संघर्ष अनिवार्य है।

6. यह संघर्ष स्वत्व तथा पहचान की समस्याओं को जन्म देता है अस्तिमा, भिन्नता तथा अन्यता इस बात की ओर संकेत करते है कि वे लोग जिनके हित तथा विचार एक दूसरे से टकराते है वे यह अनुभव करते है कि कोई ऐसा सर्वमान्य व्यापक मुद्दा नहीं जिसके लिए सब एकमत हों। इसी से स्वायत्तता का प्रश्न भी संबद्ध है।

7. उत्तर-आधुनिकता युग में मानव या मानवीय संवेदना को कोई महत्व नहीं रह गया है। मिशलफूकों के शब्दों में- ''सागर के किनारे रेत पर बनाए गए चेहरे की भाँति मनुष्य का निशान मिट जायेगा।?

8. यह ज्ञान-विज्ञान और कला की सीमारेखा को नहीं स्वीकारता है। दो या अधिक शास्त्र मिलकर नवीन-नवीन शास्त्रों को निर्मित कर रहे है। फिल्म, फैशन, फोटोग्राफी, कथा साहित्य, कॉमिक्स, कम्प्यूटर ग्राफिक्स, चित्रकला, सूचना, संगीत, रंगमंच, विज्ञान, वैद्युत सम्प्रेषण भाषा, वेशभूषा अर्थात जीवन और जगत की प्रत्येक वस्तु वैचारिक धारायें आपस में घुल-मिल रहीं है। पद्य गद्यात्मक और गद्य काव्यात्मक हो रही है।

9. इस युग में सभी विचारों वस्तु तथा कला की अभिव्यक्ति के अंत की बात कहीं गई है इसमें आधुनिकता का अंत, साहित्य और कला एवं साहित्यकार कलाकार, इतिहास विचारधारा का अंत और यहां तक कि ईश्वर एवं मनुष्य के अवसान की घोषणा कर दी गयी है।

10. उत्तर-आधुनिकता किसी भी प्रकार की पूर्णता का विरोधी है। इसमें कुछ भी शाश्वत, संपूर्ण, अंतिम तथा स्थायी और स्थिर नहीं है। सब कुछ अनिश्चित, क्षणिक है। यहाँ तक कि शब्दों के स्थायी अथवा निश्चित अर्थ नहीं होते। सब कुछ परिवर्तशील है।

11. यह युग लोकप्रिय संस्कृति का समर्थक है। आभिजात्यकला को लोक कला से श्रेष्ठ नहीं मानता है।

12. उत्तर-आधुनिकतावाद यर्थाथ को नये ढंग से परिभाषित करता है। इसकी दृष्टि में कोई वास्तविक संसार नहीं। यर्थाथ एक सामाजिक अवधारणा है। एक प्रतिविम्ब है। एक विभ्रम है। जिसकी सभ्यता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। हम वास्तविकता को कृत्रिम अर्थात् चिन्हों तथा प्रतिविम्बों द्वारा ही जानते है। मार्शल ब्लावस्की के शब्दों में- ''हम आकृतियों की दुनियां में जीने के लिए विवश हैं। हम भूल गए हैं कि कभी कोई वास्तविक आकाश भी था, वास्तविक आहार भी था। कभी कोई भी वास्तविक वस्तु थी।

13. उत्तर-आधुनिकता का मूल तत्व युगल विपरीतता भी है। इसमें दो विपरीत समूह एक दूसरे से इस प्रकार संबद्ध होते हैं कि इन्हें संपूर्ण रूप से अलग नहीं किया जा सकता। किन्तु एक

वर्ग का दूसरे वर्ग पर वर्चस्व रहता है। यथा-स्त्री पर पुरुष का वर्चस्व है, अभिजात्य वर्ग का भिन्न वर्ग पर वर्चस्व कायम है। इस विभेद को नष्ट करना परम् आवश्यक है।

अस्मिता की तलाश में नारी चेतना, दलित चेतना, देशीवाद, ब्राह्मणवाद, विरोधी, सत्ता के विकेन्द्रीयकरण हेतु जो व्यग्रता, अकुलाहट दिखाई दे रही है। इसके मूल में उत्तर-आधुनिक मानसिकता ही है। अत: हम कह सकते हैं कि उत्तर-आधुनिकता आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन है। आर्थिक विकेन्द्रीयकरण, आर्थिक समृद्धता का प्रदर्शन, अतिभौतिकतावाद का चर्मोत्कर्ष है। समष्टिगत भावना में परवर्तित हो रही है। जीवनशैली आत्मकेन्द्रित हो गयी है। कृषि, व्यापार, औद्योगीकरण, विकास यहाँ तक कि ज्ञान, सूचना-संचार आदि सभी कार्य-व्यापार अर्थ केन्द्रित हैं। इसका उद्देश्य प्रत्येक क्षेत्र में अर्थगत लाभ है। इन सभी सन्दर्भों में भ्रान्तियों का परित्याग कर श्रेष्ठ-निकृष्ट को जाँचने-परखने तथा उसके अर्थगत निहितार्थों को समझने की आवश्यकता है उससे परहेज करने की नहीं। कुछ लोग इसके दूरगामी परिणामों पर टिप्पणी करते सुने गये है कि उत्तर-आधुनिकता से पुरातन-पंथी विचारों और शोषणवादी मानसिकता को प्रश्रय मिलेगा। किन्तु शायद वे इसे ठीक तरह समझ नहीं पाये हैं कि इतिहास, कविता, संस्कृति, मूल्य, मानसिकता यहाँ तक कि मनुष्यता का अंत ही उत्तर-आधुनिकता है और इसके लक्षण भारतीय परिदृश्य पर दृष्टिगत होने लगे है।[4]

उत्तर-आधुनिकता वर्तमान युग की उभरती हुई शक्तिशाली प्रवृत्ति है, अवसर आधुनिकतावादी विचार व्यक्त करते है कि यह विचारधारा समाज के लिए हर दृष्टि से घातक है, यह एक कुरूप पूंजीवादी शिंकजा है जो निर्धनों और उपेक्षित को हाशिये पर ले जायेगा। उत्तर-आधुनिकता और कुछ नही केवल समाज की संक्रमणकालीन अवस्था ही है। लेकिन केनेथ थाम्सन जोर देकर कहते है कि उत्तर आधुनिकता अपने स्वरूप और कार्य में बहुलवादी है, इसके अनेक आयाम है उत्तर आधुनिकता ने आम जनता की संस्कृति को विकसित किया है। इसे हम लोकप्रिय संस्कृति भी कह सकते हैं। उत्तर-आधुनिकता का स्वरूप के केवल सांस्कृतिक, आर्थिक ही नहीं है इसका राजनीतिक पहलू भी प्रभावशाली है। आधुनिकता समाज के उपेक्षित समूहों को उत्तर आधुनिकता ने व्यापक धरातल प्रदान किया है। इस दौर में विकसित ये नये समूह अपने अधिकारों को पाने के लिए आंदोलनो का सहारा लेते है। अत: उत्तर आधुनिकता के बहुलवाद का एक नया पहलू आंदोलनो का दौर है। नये उपेक्षित विकसित समूहों के उदय ने एक नयी स्थानीय राजनीति को जन्म दिया है। इसे हम सूक्ष्म राजनीति कह सकते है। सूक्ष्म राजनीति का यह बहुलवाद उत्तर आधुनिकता की नई उपलब्धि है। पारंपरिक शासक वर्ग अब समाप्त हो रहे हैं। उत्तर आधुनिकता ने अनेक नये अराजनैतिक समूहों को बहुलवाद के आधार पर विकम्पित किया है। इनकी अपनी अपनी स्थानीयता के आधार पर पहचान है। यही कारण है कि अब कला, संगीत, साहित्य, राजनीति आदि क्षेत्रें में स्थानीय आधार पर सभी के अपने-अपने मसीहा हैं। उत्तर-आधुनिकता ने एक तरह मे इन्हीं

अपरिचत चेहरों को आधार एवं पहचान प्रदान की है।

हेबडिगें कहते है कि उत्तर आधुनिकता के प्रभाव से उपजे नये समूहों ने मीडिया का भरपूर उपयोग किया है। इन समूहों ने लोकप्रिय संस्कृति के माध्यम से अपनी अलग पहचान बनाने में सफलता प्राप्त की है। ये अपने आपको विमुक्त समाज मानते हैं। उत्तर आधुनिकता मनुष्य की भावनाओं, मनोभावों और आध्यात्मिकता पर भी जोर देती है, वही उत्तर आधुनिकता ने धर्म को मनोविज्ञान और राजनीति से भी जोड़ा। यही उत्तर आधुनिक युग की विशेषता है। भारत में उत्तर आधुनिकता दस्तक दे चुकी है, या फिर आ रही है या नहीं आयी है, यह बहस तो चलती ही रहेगी। लेकिन यह तो मानना ही पड़ेगा कि धर्म के प्रति एक वैचारिक परिवर्तन हमें स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ रहा है। एक ओर जहाँ धर्म का राजनीतिकरण हो रहा है, वहीं दूसरी ओर नये देवी-देवता संत-पुरुषों का उदय हो रहा है। नये-नये तीर्थ स्थान विकसित हो रहे है, वहीं इन तीर्थों में जाने वाले तीर्थयात्रियों की भीड़ भी बढ़ रही है। यकीनन यही उत्तर आधुनिकता की दुनिया है, जिसमें हम प्रवेश कर रहे हैं। उत्तर आधुनिकता मनुष्य की स्वतंत्रता के रूप में विखण्डन, संस्कृतियों की बहुलता, नये समूहों के उदय को आश्रय देती हुई अपने आपको अवश्य स्थापित कर लेगी।

मुझे तड़प रही है। वाणी रहित होने की स्थिति/मुंह से टपक रहा है रक्त/और तुम तालियां पीटते/कब तक मापते रहोगे मेरी यातना।[5]

आज की युवा कविता का स्वर विद्रोह और आक्रोश से समन्वित होकर सामाजिक, आर्थिक असंगतियों तथा अव्यवस्थाओं की अवस्था का यथाचित्र प्रस्तुत करता है यह एक तीव्र अहसास और आवेग के रूप मे उसकी कविता में प्रस्फुटित होता है। यहाँ पर ध्यातव्य है कि इस यथार्थ वर्णन के मध्य भी कवि की अन्वेषण प्रक्रिया चलती रहती है और वह यथार्थता के कठोर धरातल के मध्य भी सुगन्ध खोजता है। यह संवेदना, ज्ञान की अनेक मुखी गतिशीलता के द्वारा विस्तृत होती है जो उत्तर आधुनिक कविता का प्रमुख तत्व है। मार्क्स का कथन है - 'जब किसी समाज के गर्भ में नया समाज कुल बुलाने लगता है तो 'शक्ति' उस नये जन्म में दाई का रोल अदा करती है।[6] नई कविता में यह 'शक्ति' जन चेतना के रूप में देखने को मिलती है। अतः ''उत्तर आधुनिक युग की कविता में सामाजिक व्यवस्था विचार प्रक्रिया तथा नगर बोध की सम्मिलित प्रक्रिया एक साथ कार्य करती है। दूसरी ओर विचार दर्शन की नई भूमिका भी प्रस्तुत करती है। इस भूमिका को समाज व्यवस्था की आधुनिकता भी कह सकते है, जिसमें आम आदमी की आकांक्षाओं का स्पन्दन प्राप्त होता है।[7]

यहीं 'आम आदमी' (यथार्थ बोध) आज की कविता में सबसे अधिक उभरकर आ रहा है। आधुनिकता बोध बुद्धिजीवियों तक ही सीमित नहीं है, इस बोध के अन्तर्गत् सामान्यजन मानस की, श्रम जीवियों तथा कृषकों की दूकानदारों तथा ठेकेदारों की और तकनीक शास्त्रियों की आकांक्षाओं तथा विचार प्रक्रियाओं का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। आज की कविता का मूल स्वर यह

जन-मानस का यथार्थ है। लीलाधरजूगड़ी की निम्न पंक्तियाँ सामान्य जन की वेदना को रेखांकित करती हैं, जो आज की कविता की सामान्य प्रवृत्ति है -

'यह ठीक है कि समय सबको अपने
दाँत मार रहा है
लेकिन घाव और पीड़ा का समाज
केवल घरेलू आदमी ढो रहा है।[8]

समष्टिरूपेण, आज की कविता में उत्तर आधुनिकीकरण से उद्‌भुत तत्वों को अधिक प्रश्रय प्राप्त हो रहा हैं और जहाँ तक आधुनिक बोध के आन्तरिक व वैचारिक पक्ष का प्रश्न है, वह रचनाकारों के द्वारा कम ही ग्रहण किया गया है। इस दृष्टि से नई कविता का प्रणेता कभी-कभी आधुनिकीकरण को ही आधुनिकता समझा बैठता हैं आर्थर एंडिगटन का कथन इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है- 'आज के परिवेश में 'ज्ञान' केवल ऐन्द्रिय या भौतिक नहीं है पर मूलतः ज्ञान एक सीमा के बाद तात्विक क्षेत्र को स्पर्श करता है।[9]

वस्तुतः उत्तर आधुनिकता कई विचारों के सार और संदर्भ ग्रहण करता है, पर किसी एक विचारधारा या प्रवृत्ति को लेकर बहुत उत्साही नहीं नजर आता है। उसके पूरे रवैये में एक खास तरह की बहुतत्ववादी (प्लूरलिस्टिक) और सार संग्रहवादी, एक्लेकटिकल मानसिकता दिखाई देती है। इस परिदृश्य में साहित्य की अवस्था के विषय में कुंवर नारायण ने अपने एक व्याख्यान में कहा था कि ''आज के वैचारिक परिदृश्य पर जब मैं एक साहित्यिक दृष्टि डालता हूँ तो मुझे कुछ मायनों में किसी रामायण का उत्तरकाण्ड याद आता है। उत्तर संरचनावाद, उत्तर आधुनिकतावाद और अब शायद उत्तर मार्क्सवाद भी हवा में है। ऐसा लगता है जैसे सुदृढ़ विचारों का त्रेता युग समाप्त हुआ और अब हम तमाम अंदेशों के उस कलियुग में हैं जहाँ टेक्नोलोजी का महाजाल, प्रचार- प्रसार, माध्यमों का शोरगुल, पूरी पृथ्वी और वातावरण को निगल जाने वाली उपभोक्ता वादी संस्कृति का सुरसा मुँह सारे मानवीय और जीवन मूल्यों का अंत घोषित करने पर तुली है संदेह होता है कि नक्कारखानों में साहित्य कहीं एक तूती की आवाज होकर तो नहीं रह गया है।''[10]

उत्तर आधुनिकता के सन्दर्भ में कुछ विद्वानों ने कविता के अन्त की घोषणा भी की है। लीलाधार जगूड़ी ने यहाँ तक लिखा है कि -[11]

किताबों के भीतर
नजरों का खेल खत्म हो जाने के बाद
कुछ नहीं मिलता

कहने को वहाँ कहानी है, कविता है।

किन्तु यहाँ यह बात स्पष्ट करना आवश्यक है कि उत्तर आधुनिक विमर्श में जब कविता के अन्त की बात कहीं जाती है तो उसका तात्पर्य यह होता है कि कविता की पवित्रता, उदारता या गंभीरता उत्तर आधुनिक युग में झरित हुई है। कविता बुनियादी तौर पर सृजनात्मक होती है। यहाँ तक कि विध्वंसकारी या अराजकतावादी कविता में भी अपनी आंतरिक सृजनात्मकता रहती है। किन्तु कुछ विद्वानों का मानना है कि धूमिल के बाद हिन्दी कविता में यह आन्तरिक सृजनात्मकता एक आध कवियों को छोड़कर कही भी देखने को नहीं मिलती। समकालीन कवियों में धूमिल में भाषा जितनी जंग लड़ी, उतनी किसी दूसरे कवि ने नहीं। धूमिल को अपनी कविता के लिए एक सही माध्यम की तलाश थी। धूमिल ने वस्तुतः निराला और मुक्तिबोध की परंपरा को आगे बढ़ाया है धूमिल ने लिखा है–

वक्त बहुत कम है
इस लिए कविता पर बहस
शुरू करो
और शहर को अपनी ओर झुका लो
क्योंकि असली अपराधी का
नाम लेने के लिए
कविता सिर्फ उतनी देर तक सुरक्षित है
जितनी देर, की माँ बनने से पहले
कसाई के ढीहे और तनी हुई गंडास के बीच
बोटी सुरक्षित है।[12]

कविता वस्तुतः सृजनात्मकता मूल्यबोध की अभिव्यक्ति है। किंतु उत्तर आधुनिक युग में सृजनात्मकता का मूल्य बोध समाप्त नहीं तो क्षतिग्रस्त अवश्य हुआ है। आज के उपयोगितावादी दृष्टिकोण में इन मूल्यों के लिए स्थान नहीं रहा। देरिदा ने भी कविता, विज्ञापन, सिनेमा इत्यादि को केवल एक 'पाठ' घोषित कर, इन सब को एक ही श्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया है। रघुवीर सहाय ने कभी लिखा था –

कितना अच्छा था छायावादी
एक दुख लेकर वह एक गान देता था
कितना कुशल था प्रगतिवादी
हर दुःख का कारण पहचान लेता था

कितना महान था गीतकार

स्पष्ट है कि इधर कविता के अंत की जो घोषणा की जा रही है, वह वस्तुत: कविता के सृजनात्मक मूल्य तथा उसकी उदात्तता का क्षरण है। किन्तु क्षरण को समाप्ति नहीं माना जा सकता। आज इस कठिन समय में इतनी अधिक कविताओं की रचना हो रही है जो चौकाने वाला तथ्य है। कविता के इस विशाल फलक पर क्षरण तथा बचे रहने की अंदरूनी ताकत दोनों को देखा जा सकता है। कविता की इस पर 'विजय कुमार' ने 'सदी के अंत में कविता' में किसी अन्य हवाले से टिप्पणी की है। किसी ने ठीक ही कहा है कि 'पल्प' और 'पोएट्री' दोनों हमारे समय के अतिवादी सांस्कृतिक रेस्पांस है। जिनका गंधर्व विवाह हुआ है; विजयकुमार, सदी के अंत में, कविता, भूमिका यह टिप्पणी समकालीन कविता के परिवर्तित स्वरूप को स्पष्ट कर देती है। वस्तुत: कविता का अंत संभव ही नहीं है। कोई भी कला समाप्त नहीं हो सकती। कविता में संवेदना तथा स्वरूप के धरातल पर जो परिवर्तन आया है, वह वस्तुत: सृजनशीलता के नये आयामों की तलाश है।

उत्तर आधुनिक विमर्श में जिस अंतपरक दर्शन का प्रचार हो रहा है, उसे भारत के सन्दर्भ में पूर्णत: स्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु इसके प्रभाव से आए परिवर्तनों को नकारा भी नहीं जा सकता। किंतु जहाँ अंत की बात है, 'बाघ नामक कविता संग्रह में कवि ने अंत पर जो टिप्पणी दी है। वह महत्वपूर्ण है। पूरे अंतपरक दर्ज़न के प्रत्युत्तर का स्वर को इस कविता में सुना जा सकता है।

"अंत में मित्रो
इतना ही कहूंगा
कि अंत महज एक मुहावरा है।
जिसे शब्द हमेशा
अपने विस्फोट में उड़ा देते हैं
और बच रहना है हर बार
वही एक कच्चा-सा
आदिम मिट्टी जैसा ताजा आरंभ
जहाँ से हर चीज
फिर से शुरू हो सकती है।[13]

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि आधुनिकता से एक कदम आगे उत्तर आधुनिकता में विचारों तथा धारणाओं का नित गत्यात्मक रूप दृष्टिगत होता है यह गत्यात्मकता द्विमार्गी है - 1. विज्ञान बोध परक 2. राजनैतिक बोध परक। इन कारणद्वय से विचार प्रक्रिया भी प्रभावित होती

है। उत्तर आधुनिक कविता इन दोनों कारणों के घात-प्रतिघात से नई कविता द्वन्द्वात्मकता से युक्त होकर प्रस्तुत होती है। छायावाद से लेकर समकालीन कविता तक 'विज्ञान बोध' को अनेक ढंगो से वर्णित करने का प्रयास कवियों के द्वारा किया गया है। किन्तु उत्तर आधुनिक कवि की भावभूमि में नये आयामों को खोजने की प्रवृत्ति जागृत हुई है जो ज्ञान के विविध आयामों के पूंजीभूत रूप को वैचारिक-संवेदना के धरातल पर अवतीर्ण करती है। इस नयी कविता का कलेवर कल्पना के कमनीय संसार में विचरण नहीं करता अपितु यथार्थ स्थिति-संगति-विसंगति का यथा रूप पाठक के सम्मुख रखता है। नयी कविता ज्ञान की सापेक्षता को स्वीकार करती हुई भौतिक वाद से आध्यात्मिकता तक की सतत् यात्रा है जिसमें जीवन की आधुनिक परिभाषाओं स्वरूपों घटकों को समष्टि रूप में साकार किया गया है।[14] इस प्रकार उत्तर आधुनिकता के आइने में नई कविता के स्वरूप प्रयोजन पर विश्लेषण से यह तथ्य ही स्पष्ट है कि मूल उत्स से लेकर सम्पूर्ण अभिव्यक्ति प्रक्रिया में यह संवेदनशीलता यथार्थ सौन्दर्य बोध, विचार कविता तथा आधुनिक संघर्षो व मूल्य बोध की कविता है जिसका स्वागत किया जाना समीचीन है। नई सदी तीसरी दुनिया के देशों, विशेषकर भारत के लिए जिस स्तर का आर्थिक-राजनीतिक-वैचारिक संकट लेकर उपस्थित होने जा रही है, उसके समक्ष साहित्यकारों और बुद्धिजीवियों के लिए वैचारिक ऐय्याशी के अवसर कम से कम होते जाएँगे। हिंदी साहित्य का एक आम विद्यार्थी भी जानता है कि कभी-कभी ऐसे युग आते हैं, जब समूचा साहित्य जन-जीवन से कटकर पिष्टपेषित मार्गों पर ही लंबे समय तक बढ़ता जाता है।[15] साहित्य के ऐसे युगों का खात्मा आम तौर पर किसी तेज झटके से होता है। मेरा विनम्र निवेदन है कि पिछले पचास वर्षो में आजादी, प्रगति और समृद्धि के व्यामोह ने हिंदी साहित्य को काफी कुछ दरिद्र बना डाला है। हिंदी साहित्य की नई भावभूमि नई सदी में भूमंडलीकरण की इसी प्रक्रिया में हासिये पर फेक दिये गये। लोगों की तकलीफे और आशाएं होगी संभव है, साहित्यिक रूपों में कुछ परिवर्तन आए, आखिरकार पुराने महाकाव्य की समाप्ति से साहित्य नहीं समाप्त हो गया, बल्कि उसकी जगह उपन्यास के रूप में नया महाकाव्यात्मक साहित्य रूप उभर आया। संभव है साहित्य की धारणा में परिवर्तन हो, आखिरकार एक हजार वर्षों तक कविता के साम्राज्य के बाद नए युग में गद्य भी तो साहित्य के भीतर आ ही गया। संभव है साहित्य की भूमिका में परिवर्तन हो, आखिरकार रसज्ञों के संकीर्ण घेरे को तोड़कर ही तो रीतिकाल के बाद साहित्य लोगों की आशाओं-आकांक्षाओं की अभिव्यक्त कर सका था।

सन्दर्भ ग्रन्थ -

1. प्रधान, गोपाल - हिन्दी साहित्य और उत्तर आधुनिकता, साहित्य का नया सौन्दर्यशास्त्र देवेन्द्र चौबे, पृ. 419
2. यादव, वीरेन्द्र सिंह - उत्तर आधुनिकता की पृष्ट भूमि (समकालीन VIII)
3. सिंह, डॉ. सुशीला - उत्तर आधुनिकता की पृष्ठभूमि, प्रतिफलन और (अध्ययन की समस्याएँ-उत्तर आधुनिकता की पृष्ठभूमि वीरेन्द्र सिंह यादव पृ. 24

4. उपरिवत् – पृ. 27
5. दर्शक दीर्घा – पृ. 10 – बलदेव वंशी
6. विनायक पुरोहित का लेख, धर्मयुग 2 मई, 1972
7. डॉ. रघुवंश का लेख इतिहास दृष्टि, 'देखे हिन्दुस्तानी' (त्रैमासिक)
8. जूगड़ी, लीलाधर, नाटक जारी है- पृ. 26
9. आर्थर एंडिगटन – Philosply of Physical Science pp 55
10. कुवरनारायन – साहित्य और विचार, साहित्य अकादमी राष्ट्रीय संगोष्ठी
11. जूगड़ी, लीलाधर – नाटक जारी है, पृ. 49
12. धूमिल – समकालीन साहित्य विविध सन्दर्भ पृ. 96
13. सिंह, केदारनाथ – बाघ, पृ. 61–62
14. त्रिवेदी, सुरचना – उत्तर आधुनिकता के आइने में नई कविता–उत्तर आधुनिकता की पृष्ट भूमि – वीरेन्द्र सिंह यादव पृ. 130
15. चौबे, देवेन्द्र – साहित्य का नया सौन्दर्यशास्त्र पृ. 426

जिला सहकारी बैंक लिमिटेड सिद्धार्थनगर 'अ' का विकास

नीरज कुमार सिंह*

जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' की स्थापना –

जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' का प्रादुर्भाव/गठन वर्ष 1993-94 में जिला सहकारी बैंक लि. बस्ती के विभाजन के फलस्वरूप हुआ। जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' का पंजीकरण दिनांक 24.07.1993 को हुआ था जिसका निबन्धन संख्या 20 है। इस बैंक ने अपना कार्य दिनांक 01.08.1993 से प्रारम्भ किया है। वर्तमान समय में इस बैंक का मुख्यालय सिविल लाइन तेतरी बाजार सिद्धार्थनगर में एक किराये के मकान में स्थित है।[1]

जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' की शाखा बैंकिंग –

प्राथमिक स्तर पर स्थित सहकारी समितियों में जिला सहकारी बैंक का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए ग्रामीण साख सर्वे समिति ने गाँव तथा जिला के मध्य स्तर पर जिला सहकारी बैंक की शाखा खोलने की आवश्यकता पर जोर दिया था, क्योंकि जिला सहकारी बैंक का कार्यालय प्रातः जिला स्तर पर स्थापित होता है किन्तु जहाँ जिला बड़ा और बैंक का व्यवसाय भी बहुत अधिक है वहाँ विकास खण्ड और तहसील केन्द्र एवं अन्य सुविधाजनक स्थानों पर बैंक की शाखाएं खोली जाती है। जिला सहकारी बैंक द्वारा शाखाएँ खोलना वाँछनीय समझा जाता है क्योंकि इनके द्वारा उनकी ऋण प्रार्थना पत्रों को निबटाने, साख वितरित करने और जमाओं के रूप में अधिक कोष प्राप्त करने में सुविधा होती है अतः इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए शाखा विस्तार कार्यक्रम को अपनाया जाता है।[2]

जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' अपनी कुल 16 शाखाओं के साथ 14 विकासखण्ड एवं 05 तहसीलों में एक साथ कार्यरत है। इनमें 10 शाखाएँ ग्रामीण क्षेत्र में एवं 06 शाखाएँ शहरी क्षेत्र में खोली गयी है। इस प्रकार लगभग 63 प्रतिशत शाखाएँ ग्रामीण क्षेत्र में एवं 37 प्रतिशत शाखाएँ शहरी क्षेत्र में स्थापित है।

जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' की कुल 16 शाखाओं में से 14 शाखाओं की

*असिस्टेण्ट प्रोफेसर, वाणिज्य संकाय, दिग्विजयनाथ स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गोरखपुर

स्थापना वर्ष 1963 से लेकर वर्ष 1981 के बीच हुआ है, तथा 02 शाखाएँ क्रमशः बांसी और नौगढ़ जो दोनो ही सांयकालीन शाखा है, जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' की स्थापना के बाद क्रमशः 01.08.1995 एवं 29.08.1995 को स्थापित हुआ है जिसका विवरण सारणी संख्या 1.1 से स्पष्ट है-[3]

सारणी संख्या 1.1

जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' की शाखाओं की स्थिति [4]

क्र.सं.	शाखा का नाम	खुलने की तिथि	नगरीय/ग्रामीण
1	नौगढ़	05.01.1963	नगरीय
2	डुमरियागंज	15.05.1970	ग्रामीण
3	बांसी	20.121971	नगरीय
4	इटवा	29.03.1972	ग्रामीण
5	शोहरतगढ़	07.11.1977	नगरीय
6	बर्डपुर	07.11.1977	ग्रामीण
7	खेसरहा	14.10.1978	ग्रामीण
8	उस्का बाजार	22.01.1979	ग्रामीण
9	बढ़नी	22.01.1979	नगरीय
10	पथराबाजार	26.01.1979	ग्रामीण
11	खुनियांव	13.02.1979	ग्रामीण
12	साथा	15.02.1979	ग्रामीण
13	भनवापुर	03.071979	ग्रामीण
14	जोगियां	14.03.1981	ग्रामीण
15	बांसी सांयकालीन शाखा	01.08.1995	नगरीय
16	नौगढ़ सांयकालीन शाखा	29.08.1995	नगरीय

जिला सहकारी बैंक का आकार एवं कार्यक्षेत्र [5]-

एक कुशल तथा आर्थिक इकाई बनने के लिए जिला सहकारी बैंक का एक ऐसा कार्यक्षेत्र होना चाहिए, जो उसे पर्याप्त व्यवसाय करने का अवसर प्रदान कर सके तथा जीवन - योग्यता में

वृद्धि कर सके। साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि उसका कार्यक्षेत्र इतना अधिक विस्तृत न हो कि वह उन प्राथमिक सहकारी समितियों की जिनके लिए इसकी स्थापना की गयी है, पहुँच के बाहर हो। पहले जिला सहकारी बैंको का कार्यक्षेत्र इतना संकुचित एवं सीमित होता था कि आर्थिक इकाईयों के रूप में कार्य करने के रूप में असमर्थ थे।

ग्रामीण साख सर्वे समिति ने यह सुझाव दिया था कि उनके आदर्श एवं अनुकूलतम आकार के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक जिले में एक जिला सहकारी बैंक हो। आर्थिक या जीवन योग्य इकाईयों से भी अधिक जोर सुदृढ़ता पर दिया गया। एक जिला एक बैंक की नीति का अनुसरण करने की आशा की गयी जिससे बैंक एक सशक्त इकाई बन सके तथा कृषि वित्त के ढाँचे में निचले स्तरों के समितियों के प्रति अपनी जिम्मेदारियाँ अधिक कुशलता के साथ निभा सके। यह मानक जिला सहकारी बैकों की रचना के लिए अन्य मानकों (जैसे- एक न्यूनतम कार्यशील पूँजी होना) की अपेक्षा अधिक स्थायी आधार प्रदान कर सकेगा, क्योंकि न्यूनतम कार्यशील पूँजी का मानक अपनाये जाने की दशा में बैकों के निरन्तर पुनर्गठन की आवश्यकता पड़ेगी।

जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' की सदस्यता [6] –

जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' एक मिश्रित स्वरूप वाला बैंक है, जिसमें निम्न प्रकार के सदस्य हो सकते है–

1. **साधारण सदस्य** – जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' का साधारण सदस्य सहकारी समितियाँ होती है। सहकारी समितियों में केवल साख समितियाँ ही नहीं, बल्कि अन्य समितियाँ जैसे विपणन समितियाँ, कृषि समितियाँ, सहकारी उपभोक्ता भण्डार, बुनकर समितियाँ आदि भी सदस्य होती है। केवल वे ही प्राथमिक समितियाँ इसकी सदस्य बन सकती है, जिनकी रजिस्ट्री बैंक के कार्यक्षेत्र जनपद सिद्धार्थनगर में किया जाता है।

2. **विशेष सदस्य** – इसे सहानिभूतिकर सदस्य भी कहते है। कोई भी व्यक्ति जो बैंक के उद्देश्यों की पूर्ति एवं सदस्य के कल्याण में अपनी अभिरूचि दिखाता हो, विशेष सदस्य बनाया जा सकता है। जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' का विशेष सदस्य उत्तर प्रदेश राज्य सरकार होता है।

3. **नाम मात्र सदस्य** – इसे व्यक्तिगत सदस्य भी कहते है। व्यक्तिगत सदस्य प्रायः सार्वजनिक सेवा करने तथा स्थानीय समाज में प्रभाव रखने वाले व्यक्तियों को बनाया जाता है। व्यक्तिगत सदस्य के लिए यह आवश्यक है कि वह जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' के कार्यक्षेत्र के अंदर ही निवास करता हो। व्यक्तिगत सदस्य को बैंक के लाभ में हिस्सा पाने का अधिकार नहीं होता है।

सदस्य संख्या - बैंक के गठन के समय सदस्यता कुल 207 थी, किन्तु गठन के पश्चात 6 वेतन भोगी सहकारी समितियाँ, एक मत्स्य सहकारी समिति, एक श्रम संविदा सहकारी समिति, एक दुग्ध सहकारी समिति, एक काष्ठकला, एक औद्योगिक तथा एक अर्वन कोआपरेटिव बैंक कुल 12 सदस्यों की वृद्धि होकर वर्तमान में कुल सदस्यता 219 है। जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' की सदस्यता का विवरण सारणी संख्या 1.2 से स्पष्ट है-

सारणी संख्या 1.2

जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' की सदस्यता का विवरण [7]

क्र.सं.	सदस्य का नाम	संख्या
1	प्रारम्भिक कृषि साख सहकारी समिति (पैक्स)	135
2	सहकारी संघ	24
3	क्रय विक्रय सहकारी समितियां	04
4	केन्द्रीय उपभोक्ता भण्डार	01
5	वेतनभोगी कर्मचारी सहकारी समितियां	29
6	श्रम संविदा सहकारी समितियां	03
7	अन्य सहकारी समितियां	22
8	राज्य सरकार (विशेष सदस्य)	01
9	नाम मात्र सदस्य (व्यक्तिगत सदस्य)	-
	कुल योग	219

जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर की स्थापना के उद्देश्य एवं कार्य [8] :- जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य सदस्य समितियों की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। वे कृषि साख समितियों को उत्पादन कार्य के लिए, विपणन समितियों को विपणन तथा पूर्ति कार्यों के लिए तथा औद्योगिक एवं अन्य समितियों को उनके कार्यशील व्ययों की पूर्ति करने के लिए वित्त प्रदान करते है वे प्राथमिक समितियों का मुद्रा बाजार से सम्बन्ध स्थापित करने में मध्यस्थता का कार्य करते हैं। वे प्राथमिक समितियों की कार्यशील पूंजी के आधिक्य को स्थानान्तरित करने अथवा उसकी कमी की पूर्ति करनें में संतुलन केन्द्र का भी कार्य करती है।

प्राथमिक समितियों को ऋण देने के अतिरिक्त वे उन्हें कुछ सामान्य बैंकिंग सुविधाएं भी प्रदान करतें है, जैसे जमा धन स्वीकार करना, कोषों का स्थानान्तरण, चेक के धन वसूली आदि। संक्षेप में जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' की स्थापना निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए की गयी है :-

1. प्राथमिक कृषि साख सहकारी समितियों को आर्थिक सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से इस बैंक की स्थापना किया गया है। क्योंकि प्राथमिक कृषि साख सहकारी समितियों के वित्तीय साधन संतोषजनक नहीं होते है। अत: उन्हें बाहरी साधनों पर आश्रित रहना पड़ता है। बाहरी साधनों में इस प्रकार के बैंक महत्वपूर्ण हो सकते है।

2. सदस्य समितियों को उचित व सुविधाजनक शर्तों पर ऋण देने के लिए निधियों की आवश्यकता होती है, अत: निधियां एकत्र करने के उद्देश्य से इस बैंक की स्थापना किया गया है।

3. सहकारी आन्दोलन के विकास में सहयोग प्रदान करने के उद्देश्य से भी इन बैंको की स्थापना की गयी है।

4. जिला सहकारी बैंक की स्थापना का मूल उद्देश्य प्राथमिक कृषि साख सहकारी समितियों में समन्वय स्थापित करना भी है। प्राथमिक कृषि साख सहकारी समितियों के लिए यह आवश्यक है कि नजदीक से देख रेख के लिए उनसे सम्बन्धित कोई संघीय इकाई हो। इन समितियों के समन्वय के लिए जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' की स्थापना किया गया है।

5. सभी सम्बन्धित महकारी समितियों के निरीक्षण एवं पर्यवेक्षण की व्यवस्था करना भी जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य है।

6. जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' की स्थापना का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य सदस्य समितियों तथा अन्य लोगों में बचत तथा मितव्ययिता की भावना का विकास करना भी है।

7. व्यक्तिगत सदस्यों को सोने, चाँदी अथवा कृषि उत्पाद के धरोहर पर ऋण प्रदान करना, जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य है।

8. कृषि एवं कृषि पर आधारित उद्योगों एवं कुटीर उद्योगों के विकास के लिए वित्तीय संसाधन उपलब्ध कराना भी जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' की स्थापना का मुख्य उद्देश्य रहा है।

कार्य -

जिला सहकारी बैंक जिला स्तर पर कार्य करता है। यह शीर्ष बैंक (उत्तर प्रदेश राज्य सहकारी बैंक) से ऋण लेकर और जमाएं आकर्षित करके संसाधन एकत्र करता है, अपने निजी संगठन के द्वारा साख स्वीकृत करता, वितरित और वसूली करता है, तथा समस्त जिला के लिए साख नीति एवं कार्यक्रमों का संचालन करता है। जिला सहकारी बैंक प्राय: व्यापारिक बैंक के सभी कार्यों को सम्पन्न करते है। जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित कार्य करता है [1]-

1. **निक्षेप (जमा) स्वीकार करना** - जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' का एक महत्वपूर्ण कार्य सदस्यों एवं गैर सदस्यों से रकम जमा करना है। साधारण जनता थोड़ी-थोड़ी रकम बचाती है। वह रकम बैंक में जमा होकर विशाल पूँजी का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार जमा के द्वारा जिस बैंक के साधन अधिक होते हैं, वह बैंक शक्तिशाली माना जाता है। बैंक जनता से रकम निम्न रूपों में स्वीकार करती है।

   (i) **चालू खाता** - इसमें जमा करने वाला अपनी इच्छानुसार कभी भी रूपया जमा कर सकता है अथवा निकाल सकता है। ऐसी जमा पर बैंक साधारणतया कुछ भी ब्याज नहीं देती है, बल्कि बहुत बार तो उसके प्रबन्ध का खर्च ग्राहक से वसूल करती है। परन्तु कभी कभी बहुत कम दर पर ब्याज भी दिया जाता है।

   (ii) **बचत खाता** - यह जमा साधारणतया उन व्यक्तियों के लिए उपयुक्त होती है जो कभी कभी रूपया जमा करना चाहते है और वह भी छोटी छोटी मात्राओं में ऐसी जमा पर स्थायी जमा की अपेक्षा कम ब्याज दिया जाता है।

   (iii) **स्थायी जमा खाता** - ऐसी जमा का अभिप्राय उस जमा से होता है जिनका भुगतान केवल एक निश्चित अवधि के पश्चात हो सकता है। ऐसी जमा पर ब्याज की दर साधारणतया ऊँची होती है। जैसे -

15 दिन से 45 दिन तक	5.75 प्रतिशत वार्षिक
46 दिन से 179 दिन तक	7.00 प्रतिशत वार्षिक
180 दिन से 01 वर्ष तक	7.00 प्रतिशत वार्षिक
01 वर्ष से 02 वर्ष	7.00 प्रतिशत वार्षिक
02 वर्ष से 03 वर्ष	7.00 प्रतिशत वार्षिक
03 वर्ष से अधिक	7.25 प्रतिशत वार्षिक

(iv) **आवर्ती जमा खाता** - जिला सहकारी बैंक अपने ग्राहकों को आवर्ती खाता खोलने की भी सुविधा प्रदान करता है। ऐसे खाते पर ब्याज की दर स्थायी खाते की दर की भांति होती है। यह खाता सामान्यतया 12 महीने से लेकर 10 वर्ष तक के खोले जाते है।

2. **ऋण (उधार) देना** – जिला सहकारी बैंक का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य ऋण देना है। बैंक जितनी रकम जमा के रूप में प्राप्त करते हैं उसका अधिकांश भाग ऋण के रूप में दे देते है। ताकि उन्हें अधिक से अधिक आय हो सके और व उस आय में से न केवल बैंक के खर्चे निकाल सके, बल्कि जमा करने वाली रकम पर ब्याज भी चुकाया जा सके। बैंक अपने सदस्य सहकारी समितियों को जमानत अथवा बिना जमानत के अल्पकालीन एवं मध्यकालीन ऋण प्रदान करती है। बैंक कृषि समितियों को उत्पादन कार्यों के लिए, विपणन समितियों को विपणन एवं सप्लाई सम्बन्धी क्रियाओं के लिए, औद्योगिक एवं अन्य समितियों को उनके कार्यशील व्ययों को पूरा करने के लिए ऋण देते हैं। बैंक द्वारा प्राय: निम्न को जमानत के रूप में रखकर ऋण प्रदान किया जाता है। (क) बैंक में जमा की गयी अमानतों की रसीदें, (ख) सोने, चाँदी के गहने या सिक्के, (ग) कृषि पैदावार, (घ) पोस्ट आफिस, जीवन बीमा निगम की बीमा पत्र, (ङ) राजकीय कर्मचारियों के वेतन, बिल, (च) इण्डियन ट्रस्ट अधिनियम 1882 की धारा 20 में निर्दिष्ट किसी भी प्रकार की प्रतिभूति (छ) ऐसी जमानतें जिसे निबन्धक स्वीकार करे।

3. **सन्तुलन केन्द्र के रूप में कार्य करना** - जिला सहकारी बैंक, सहकारी समितियों के सन्तुलन केन्द्र के रूप में कार्य करते है। जिन समितियों के पास अधिक मात्रा में धन होता है, उसे जमा करते है और जिनको आवश्यकता होती है, उन्हें ऋण प्रदान करते हैं। इस प्रकार बैंक दोनों प्रकार की समितियों के बीच सन्तुलन केन्द्र के रूप में कार्य करते है।

4. **पर्यवेक्षण तथा मार्गदर्शन** - जिला सहकारी बैंक समय-समय पर प्राथमिक कृषि साख सहकारी समितियों के कार्य संचालन का निरीक्षण करता है, तथा उन्हें मार्गदर्शन में सहायता देता है।

5. **सामान्य बैंकिंग कार्य करना** - जिला सहकारी बैंक सामान्य बैकिंग कार्य भी सम्पन्न करते है जैसे -

(i) अपने सदस्यों एवं ग्राहकों के लिए लाकर्स की व्यवस्था करना।

(ii) समय-समय पर सहकारी समितियों के सम्मेलनों का आयोजन करके लोगों को सहकारिता के बारे में शिक्षा देना।

(iii) सदस्यों एवं गैर सदस्यों की आरे से बिलो, ड्राफ्टों, चेकों और अन्य निर्वाहन पत्रों आदि का संग्रह करना।

(iv) प्राथमिक कृषि साख सहकारी समितियों को अपने रक्षित कोषों के सुरक्षित विनियोग की सुविधा प्रदान करना।

(v) ग्रामीण एवं शहरी क्षत्रों में बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार करना।

(vi) सदस्यों में बचत एवं मितव्ययिता की भावना का विकास करना।

(vii) यदि किसी प्राथमिक कृषि साख सहकारी समिति के प्रबन्ध को निष्प्रभावी या निलम्बित कर दिया गया हो तो उस समिति के कार्य को संचालित करने के लिए वैकल्पिक व्यवस्था करना।

(viii) बैंक अपने ग्राहकों को क्रेडिट कार्ड की सुविधा प्रदान करता है।

(ix) बैंक द्वारा अपने ग्राहकों की सुविधा के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर रकम भेजने की व्यवस्था करना।

(x) बैंक सहकारी एवं अर्द्ध सहकारी समितियों को उपभोक्ता साख भी प्रदान करता है।

सन्दर्भ सूची –

1. वार्षिक प्रतिवेदन जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' 1994, पृष्ठ 01 ।
2. मामोरिया, डॉ. चतुर्भज एवं जैन, एस.सी. – भारतीय अर्थव्यवस्था नई दिल्ली, 2001 पृष्ठ 455-459।
3. वार्षिक प्रतिवेदन जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' 1997, पृष्ठ 08 ।
4. वार्षिक प्रतिवेदन जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' 1997, पृष्ठ 10-11 ।
5. माथुर, डॉ. बी.एस., भारत में सहकारिता 2001, पृष्ठ 220।
6. जिला सहकारी बैंक एवं समितियों से सम्बन्धित भारतीय रिजर्व बैंक, नाबार्ड निबन्धक सहकारी समितियां एवं यू.पी. कोआपरेटिव बैंक द्वारा जारी किये गये नितिगत महत्वपूर्ण परिपत्रों से सम्बन्धित मैनुअल, उ.प्र. कोआपरेटिक बैंक लखनऊ, 2000, पृष्ठ 32-46
7. प्रधान कार्यालय, जिला सहकारी बैंक लि. सिद्धार्थनगर 'अ' द्वारा प्राप्त।
8. बैंक अधिकारियों एवं कर्मचारियों द्वारा मौखिक रूप से पूछताछ से प्राप्त।
9. इन्दूले, सी.बी., कोआपरेटिव बैंकिंग इन इण्डिया, 1990, पृष्ठ 174-178।

बाल श्रम- दशा एवं दिशा

समीर कुमार पाण्डेय*

बालश्रम बाल उत्पीड़न का ही एक प्रकार है। परिवार की कम आमदनी, निचला जीवन स्तर, बड़ा परिवार तथा परिवार की उपेक्षा के कारण कम आयु का बालक श्रमिक की अवस्था में आ जाता है। बाल श्रमिक शोषित, जोखिमपूर्ण कामों को असुरक्षित तथा बहुत कम वेतन में अधिक काम करके गुजारा करते हैं। आज के परिवेश में मजदूरों को बहुत ही सुविधायें प्राप्त हैं। उनके कामों के घंटे निर्धारित हैं। इस स्थिति में आने के लिये मजदूरों ने लम्बा संघर्ष किया है। एक मई अर्थात् मजदूर दिवस इसका प्रतीक है। परन्तु इन सबके बीच मजदूरों का एक श्रेणी आज भी शोषित हो रहा है उस वार्ता का नाम है- बाल मजदूर। जो बच्चे आतिशबाजी उद्योग, काँच के कारखानों, चाय बागानों में पत्तियाँ तोड़ने वाले बाल श्रमिक, होटलों तथा ढाबों पर जूठे वर्तन मांजने वाले, कालीन उद्योगों में आंखे गँवाने वाले बाल श्रमिक हमारे समाज पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं। इसके लिये अनेक समितियाँ आदि भी गठित की गयी, रिपोर्ट प्रस्तुत की गई परन्तु नतीजा न के बराबर ही रहा।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के अनुसार अपने शारीरिक एवं मानसिक विकास को अवरुद्ध कर चौदह वर्ष या इससे कम अवस्था में ही वयस्कों के समान कार्य करने एवं उन्हीं के समान जीवन व्यतीत करने वालों को बालश्रमिक कहा जाता है।

बाल श्रम दो प्रकार का होता है एक तो बालक घर या बाहर अपने पारिवारिक वातावरण में धंधों में काम करते हुये सीखता है परन्तु ऐसा करने से उसकी शिक्षा, मनोरंजन एवं खेलकूद में कोई समस्या नहीं होती। दूसरा परिवार की आर्थिक समस्या को ध्यान में रखकर उनको कार्य में संलग्न किया जाता है जहाँ उनके शारीरिक, मानसिक, स्वास्थ्य, मनोरंजन का ध्यान नहीं दिया जाता। वास्तविक बाल श्रमिक यही है।

यूनिसेफ के अनुसार दिल्ली में लगभग 3 लाख बच्चे प्रतिदिन लगभग 12 से 15 घंटे तक परिश्रम करते हैं तथा पारिश्रमिक बहुत कम पाते हैं। हजारों बच्चों को रात में सोने के लिये आश्रय नहीं होते। किन्तु परिवार की जीविका के लिये वे प्रयासरत रहते हैं। विभिन्न कारखानों में काम करने

*असिस्टेण्ट प्रोफेसर, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र

वाले बालश्रमिक लगभग 20 से 25 वर्ष की आयु में किसी न किसी बीमारी से ग्रसित हो जाते हैं जिसके लिये निरन्तर कार्य करना, कुपोषण, अधिक गर्मी में काम करना, धूल, कांच आदि के कणों का फेफड़ों में जम जाना, जानलेवा रसायनों के सम्पर्क में रहना आदि कारण जिम्मेदार हैं।

बाल मजदूरी के विरोध एवं जागरूकता फैलाने के उद्देश्य से 12 जून को बाल श्रम निषेध दिवस मनाया जाता है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने जागरूकता पैदा करने के लिए 2002 में विश्व बालश्रम विरोधी दिवस के रूप में मनाना आरंभ किया। 10 अक्टूबर 2006 तक बालश्रम को इस दुविधा में रखा गया कि किसे खतरनाक और किसे गैर खतरनाक बालश्रम की श्रेणी में रखा जाय। उसके बाद अधिनियम 1986 में संशोधन कर ढाबों, घरों, होटलों में बालश्रम को दंडनीय अपराध की श्रेणी में रखा गया। 1979 में सरकार द्वारा बाल मजदूरी को समाप्त के समाधान के रूप में गुरुपाद स्वामी समिति का गठन किया गया। उसके बाद बालश्रम से जुड़ी सभी समस्याओं के अध्ययन के बाद गुरुपाद स्वामी समिति द्वारा सिफारिश प्रस्तुत की गयी जिसमें मुख्य कारण गरीबी बताया गया तथा ये सुझाव दिया गया कि जोखिम वाले क्षेत्रों में बाल मजदूरी पर प्रतिबंध लगाया जाय। समिति द्वारा बाल मजदूरी करने वाले बच्चों की समस्याओं के निराकरण के लिए बहुआयामी नीति की आवश्यकता पर भी बल दिया गया। 1986 में समिति के सिफारिश के आधार पर बाल मजदूरी प्रतिबंध विनियमन अधिनियम अस्तित्व में आया जिसमें विशेष खतरनाक व्यवसाय व प्रक्रिया के बच्चों के रोजगार एवं अन्य वर्ग के लिए कार्य की शर्तों का निर्धारण किया गया। इसके बाद 1987 में बाल मजदूरी के लिये विशेष नीति बनाई गयी। जिसमें जोखिम भरे व्यवसाय एवं प्रक्रियाओं में लिप्त बच्चों के पुर्नवास पर ध्यान देने की आवश्यकता पर बाल दिया गया। इसके लिये एक अंतर्राष्ट्रीय प्रयास अक्टूबर 1990 के न्यूयार्क में एक विश्व शिखर सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें 151 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया, जिसमें गरीबी, कुपोषण, भुखमरी के शिकार दुनियाभर के करोड़ों बच्चों की समस्याओं पर विचार किया गया।

भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों और नीति निर्देशों के अनुसार-

1. धारा 24- 14 साल से कम उम्र का कोई भी बच्चा किसी फैक्ट्री या खदान में कार्य करने के लिये नियुक्त नहीं किया जायेगा और न ही किसी खतरनाक नियोजन में नियुक्त किया जायेगा।

2. धारा 39 ई- राज्य अपनी नीतियों को इस प्रकार निर्धारित करे कि श्रमिकों, पुरुषों और महिलाओं का स्वास्थ्य तथा उनकी क्षमता सुरक्षित रह सके। बच्चों को कम उम्र में शोषण न हो, न ही वे अपनी उम्र और शक्ति के प्रतिकूल, आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रवेश करें।

3. संविधान लागू होने के 10 वर्ष के भीतर राज्य 14 वर्ष तक की अवस्था के सभी बच्चों

को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा देने का प्रयास करेंगे। (धारा 45)

बाल श्रम के लिये कानून-

1. बाल श्रम निषेध अधिनियम कानून 1986-इस कानून के अनुसार 14 अवस्था से कम उम्र के जीवन और स्वास्थ्य के लिए अहितकर पेशे और 57 प्रक्रियाओं में, नियोजन को निषिद्ध बनाया गया है। ये सभी पेशे और प्रक्रियाएं कानून की सूची में दिए गये हैं।

2. फैक्ट्री कानून 1948- यह कानून 14 वर्ष से कम आयु के बच्चों के नियोजन को निषिद्ध करता है। इसके अनुसार 15 से 18 वर्ष तक के किशोर किसी भी फैक्ट्री में तभी नियुक्त किये जा सकते हैं जब उनके पास किसी अधिकृत चिकित्सिक का फिटनेस प्रमाण पत्र हो। इसके साथ ही इस कानून में 14 से 18 वर्ष तक के बच्चों के लिये प्रत्येक दिन साढ़े चार घंटे की कार्य अवधि रखने के साथ ही रात के समय उनके कार्य पर प्रतिबंध लगाया गया है।

3. भारत में बालश्रम के खिलाफ कार्यवाही में महत्वपूर्ण न्यायिक हस्तक्षेप 1996 में उच्चतम न्यायालय के उस निर्णय से आया, जिसमें संघीय और राज्य सरकारों को खतरनाक प्रक्रियाओं और पेशों में काम करने वाले बच्चों की पहचान करने, उन्हें काम से हटाने और उन्हें गुणवत्तायुक्त शिक्षा प्रदान करने का निर्देश दिया गया था।

आज विश्व में जितने बाल श्रमिक हैं उनमें सबसे अधिक भारत देश में है। एक अनुमान के अनुसार विश्व के बालश्रमिकों का एक तिहाई से अधिक भाग भारत में है तथा एक अनुमान के अनुसार भारत के 50 प्रतिशत बच्चे अपने बचपन के अधिकारों से वंचित हैं। न उनके पास शिक्षा है न ही उचित पोषण। बच्चे अपनी अवस्था के अनुसार कठिन कार्य गरीबी के कारण करते हैं। गरीबी ही बाल श्रम का मुख्य कारण है। इसके अतिरिक्त बढ़ती जनसंख्या, सस्ती मजदूरी, शिक्षा का न होना एवं वर्तमान कानूनों का सही क्रियान्वयन न होना भी कारण है।

आर्थिक कठिनाइयों के कारण माता-पिता थोड़े ही पैसों के लिए अपने बच्चों को ठेकेदारों या अन्य के हाथ बेच देते हैं जो उन्हें कहीं पर भी जैसे ढाबों, कारखानों, घरों आदि स्थानों पर काम में लगा देते हैं। जहाँ उनको कम खाना, पर्याप्त न सोने देना, लगातार काम करवाना आदि ढंग से शोषण होता है। यही उनका जीवन हो जाता है। उनसे वेल्डिंग करवाना, ताले बनवाना, पीतल आदि का कार्य करवाना, काँच का काम, हीरा उद्योग, कोयले की खान, सीमेंट उद्योग, बीड़ी बनवाना, आदि खतरनाक कार्य भी करवाये जाते हैं। जिससे उन्हें गंभीर बीमारी जैसे टी.बी., कैंसर आदि होने की संभावना होती है।

छोटे हाथों में बीड़ी, पटाखे, माचिस, ईंटें, जूते यही सब दिखाई पड़ते हैं। कालीन बुनवायी जाती है, कढ़ाई करवायी जाती है, रेशमी वस्त्र बनवाये जाते हैं तथा सबसे चौकाने वाली बात यह

है कि रेशम के धागे खराब न हो, इसी उद्देश्य से बच्चों से ही काम कराया जाता है। ''फाइंडिंग ऑन द फार्म्स ऑफ चाइल्ड लेबर' नाम की एक रिपोर्ट ने ऐसा खुलासा किया था। एशिया तथा अफ्रीका के कई देशों में यह स्थिति अत्यंत भयावह है। भारत के अतिरिक्त बांग्लादेश, फिलीपीन्स भी इसमें सम्मिलित हैं। फिलीपीन्स में बच्चों से केला, नारियल, तंबाकू उगाने आदि खेतिहर कामों को करवाया जाता है। वर्ष 1996 में उच्चतम न्यायालय ने बाल श्रम पुनर्वास कल्याण कोष की स्थापना का निर्देश दिया था, जिसमें नियोजित करने वाले व्यक्ति कोष में जमा करवाने का प्रावधान है। इसी वर्ष न्यायालय द्वारा शिक्षा, स्वास्थ्य और पोषण में सुधार के भी निर्देश दिये गये। बालक अधिकार संरक्षण आयोग अधिनियम 2005 में बालकों के अधिकारों के संरक्षण के लिए एक राष्ट्रीय आयोग तथा राज्यों में गठन का प्रावधान किया गया। वर्ष 2006 में भारत सरकार ने बालकों को घरेलू नौकर के रूप में काम करने या होटलों दुकान आदि के नियोजन पर रोक लगा दी। सफलता कितनी मिली विचारणीय प्रश्न है।

भारत सरकार एवं संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के श्रम विभाग द्वारा संयुक्त रूप से वित्त पोषित 2009 में पाँच राज्यों मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, उ.प्र. तथा दिल्ली के 21 जिलों को आवृत किया तथा एनसीएएलपी और सर्वशिक्षा अभियान के करीबी सहयोग से संचालित किया गया। इस परियोजना ने लक्ष्य जिलों में काम करने वाले बच्चों की पहचान की, उन्हें खतरनाक कार्यो से छुड़वाया। उन किशारों को व्यावसायिक प्रशिक्षण तथा आय के लिये विकल्प प्रदान किया गया। आंध्रप्रदेश राज्य-आधारित परियोजना 2000 में ब्रिटेन के अंतर्राष्ट्रीय विकास विभाग द्वारा वित्त पोषित परियोजना को, बाल श्रम की समस्या के निवारण के लिए राज्य एजेंसियों, नियोक्ताओं और मजदूर संगठनों तथा नागरिक समाज को सम्मिलित करते हुए अभिनव मॉडल बनाने के उद्देश्य से प्रवर्तित किया गया था। राज्य सरकार द्वारा पहले से ही इसके शहरी मॉडल की प्रतिकृति बनाई गई है। इस परियोजना ने राज्य सरकार को बालश्रम उन्मूलन की अपनी कार्य-योजना विकसित करने और राज्य संसाधन केन्द्र के स्थापित और वित्त पोषित करने के लिए भी सहायता प्रदान की है। इतालवी सरकार द्वारा वित्त पोषित कर्नाटक राज्य आधारित परियोजना, चामराजनगर तथा वीटर जिलों में क्रियाशील है तथा इसमें जागरूकता बढ़ज्ञने और शिक्षा, कौशल प्रशिक्षण एवं स्व-रोजगार को बढ़ावा देने के माध्यम से आय जनित करने के घटक शामिल हैं।

केवल नियम या कानून बना देने से कियी समस्या का समाधान नहीं हो जाता। किसी भी कानून को बनाने से पहले उस देश की स्थिति, आर्थिक दशा को ध्यान देना चाहिए। बालश्रम को रोकने के लिये सबसे पहले देश में रोजगार के अवसर उपलब्ध कराने होंगे जिससे वयस्क अपने परिवार की जिम्मेदारी बिना किसी कठिनाई के उठा सकें ताकि परिवार की गरीबी दूर हो तथा बालक बाल श्रम की ओर उन्मुख न हो। शिक्षा का प्रसार होना चाहिये जिससे कि अशिक्षित लोग बाल श्रम

की तरफदारी न करें। कानून के प्रावधान कड़े होने चाहिये तथा उनको अक्षरशः लागू करना चाहिये कानून तोड़ने वाले (जो बाल श्रम करवाते हैं) उन्हें कड़ी से कड़ी सजा मिले ताकि वे अपने यहाँ बाल श्रम न करवा सकें। बाल श्रम के विरोध में जनजागरूकता अभियान चलाना होगा जिससे लोगों के अवचेतन में यह बात आये कि बालश्रम देश के भविष्य के लिये अत्यन्त हानिकारक है। आम जनमानम को भी प्रण लेना होगा कि वह जहाँ कहीं भी बालश्रम हो रहा होगा वह उनका बहिष्कार करेगा तथा उनका विरोध करेगा। बालश्रम की समस्या के समाधान को अपना नैतिक दायित्व समझना होगा।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि कानून के साथ-साथ समाज के नागरिकों को भी इसके विगेध में आगे आना होगा, जहाँ कहीं भी बालश्रम हो व्यक्तिगत उस बच्चे की सहायता करे। कही भी चाहे वह परिवार हो, फैक्ट्री हो, कारखाना हो अगर बालश्रम हो रहा है तो उसको बहिष्कार करें। गरीब परिवार के बच्चों को सहायता दे उनके अभिभावकों को बालश्रम के अभिशाप से अवगत करायें। व्यावसायिक प्रतिष्ठानों पर निवेदन करे कि वे अपने यहाँ बालश्रम का प्रश्रय न दें। सरकारी तंत्र, स्वैच्छिक संगठन, आम लोग मीडिया से जुड़े लोगों के एक साथ मिलकर इस समस्या से लड़ना होगा तभी हम बालश्रम को जड़े से मिटाने में सफल होंगे। शिक्षण संस्थाओं को अपनी भागीदारी सुनिश्चित करनी होगी जिससे गरीब बच्चे शिक्षा ग्रहण कर सकें और बालश्रम की ओर उन्मुख न हो। हम सब कह सकते हैं कि

''हम सबने अब ये ठाना है, बाल मजदूरी को जड़े से मिटाना है।''

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-

1. दूबे प्रशांत-बालश्रम
2. जोशी, मुंजल-बालश्रम चुनौतियाँ और निराकरण
3. विभिन्न समाचार पत्र

Hindu Trinity in Laos

Ishwar Sharan Vishwakarma*

The people of ancient India established colonies in South-East Asia not by force of arms but by peaceful, commercial and religious activities. It was for this region that the effect was almost permanent in nature. There are numerous evidences of this novel method of performance almost singular in the history of mankind. *Hindu* civilization itself is broad based on a spirit of harmony and inclusiveness which does not regard anything humane as essentially alien or repugnant either to man or God. All those who came in touch with its vivifying influence contributed to make it richer and more universal while they themselves participated in the deeper and wider life presented by it.

The term South-East Asia was coined during the Second World War as a term of military usages but now it has become geographical. The area of South-East Asia may broadly be defined as nearly the whole of Indo-Chinese peninsula and East Indies – called by the Indians respectively as *Suvarnabhumi* and *Suvarnadvipa*. To be more precise, it comprised the territories, now known as Burma (Myamara), Siam (Thailand), Kambuja (Cambodia), Malay Peninsula, Champa (Laos and Vietnam) on the mainland and the islands of Sumatra, Java, Madura, Bali and Borneo etc. on the East Indies.

The countries of South East Asia have a glorious past of which any civilized region may justly be proud. The relics of their glorious past can yet be seen in its ancient cities and the achievements of the prominent Kings of Champa as Sri Mara and Harivarman, Fa Ng un of Laos were the main builders and organizers of Hinduism and Buddhism in their time.

Laos bounded by Thailand, China, Vietnam and Cambodia is a green and mountainous land with deep river valleys. It cannot be said with certainty as to how and when Hinduism was introduced in Laos. However, we are told that in the sixth century A.D. Funan[1] came to be conquered by its northern vassal state of Chenla

*Professor, Deptt. of Ancient History, Archaeology and Culture, D.D.U. Gorakhpur University, Gorakhpur

which was ultimately divided into two parts viz. (i) Upper Chenla (i.e. the Laos state to the west of Annam), and (ii) Lower Chenla (called Water Chenla or Maritime Chenla – the capital was probably *Vyadhapura*). Hinduism became quite popular in Laos and was adopted by a large number of people as the main religion. Since Laos formed parts of the Kambuja empire about 8th or 9th century A.D., she was naturally very much influenced by the religious condition of that country. It is, therefore, justly said that Laos, particularly Vientiane and Luang Prabang had received ideas of Hinduism indirectly from India, probably through Cambodia and with the result Hinduism (Saivism and Vaishnaism etc.) flourished in the regions and the people in general were quite familiar with the Brahmanical philosophical ideas and religious beliefs.

The prevalence of Hinduism in Laos is attested to by the inscriptions and archaeological objects of the country. The Phou Lokhon in Sanskrit language consisting of six lines, comprising three verses in the *anustubh* metre, is engraved on the north-east face of a sandstone column which crowns the top of the hill called Phon Lokhon. It records the erection of a *Siva Linga* by King Mahendravarman which still stands on the spot at a distance of 21/2 metres from the inscribed column.[2] The remains of the temple of Vat Phu on the *Lingaparvata* containing *Bhadresvara Siva* is still extant to the south-west of Champasaka in South Laos.[3] The specimen of the religious art at Vat Phu depicts *Indra* on *Airavata* and *Visnu* on *Garuda*.[4] It was in the seventh century A.D. that Jayavarman I had installed a stele inscription which he named as *Lingaparvata* (the mountain containing the *Linga* or phallic representation of Lord *Siva*). An inscription of 835 A.D. speaks of *Sresthapura* as a holy place because of its association with the worship of Lord *Siva*. These instances are the greatest evidence of the presence of Hinduism in Laos. Whatever be the precise nature and age of the process of Indian cultural alliance and influences its extent was deep and extensive and its impact were felt in every sphere of their cultural and religious life. It is not possible to make representation of all due to paucity of time and space, but an interesting case study in the field of Hinduism, we would like to analyse in brief the trinity of *Hindu* religion and its impact and influence on Lao religion.

BRAHMA – By the *Hindus Brahma* is believed to be the creator of the Universe. He is referred to as creator in many Lao inscriptions but he does not seem to have held a very prominent position in Laos. He is also called here *Chaturanan* having four faces and in several inscriptions of the 13th century A/D/, he is referred to as *Svayamutpanna* or self created. In one inscription he is said to have made the golden peak of mount *Meru*.

King Jaya Parameshwar Varman installed an image of *Svayamutpanna* at Phanrang in 1233 A.D. and rich endowments were made to the God by the King himself, his heir apparent Nandaphadra, his Commander-in-Chief Adhimanyudeva and by the King Indravarman. Only two small images of *Brahma* have been discovered in Myson. These were originally placed in temples A and B. *Brahma* also figures in bas-relief decorations of temples but mostly as a subsidiary God.

The characteristic feature of the image of *Brahma* are his four faces – ofcourse, only three being visible in most cases and his *Vahana* – the goose. His common attributes are roasary and lotus-stems. In a bas-relief in Touranne Museum *Brahma* is represented as standing with four heads and eight arms holding a scepter in one of them.

The scene figuring the birth of *Brahma* has been referred to in connection with *Visnu*. Here *Brahma* wears a sacred thread and holds a discus and a long necked bottle in his hands. *Brahma* is usually seated on lotus in one case the serpents form his bed.

The real importance of *Brahma* lies in the fact that he is regarded as a member of the trinity. We find the conception of the trinity of Brahmanic Gods in one of the earliest records of Champa. The Myson inscription of Bhadravarman dating from the 5th century A.D. begins with a reverence to *Uma* and *Mahesvara* as well as to *Brahma* and *Visnu*.[5] The same idea is conveyed by iconographic representations on decorative panels. The tympanum at Trach Pho has a *Mukhalinga* in the middle with *Brahma* seated on a serpent to the proper right and *Visnu* seated on a boar, to the proper left. Both these Gods are turned towards *Siva* with joined hands and two attributes of *Visnu* viz. a discus and a club are shown in the background.[6] In the tympanum of U Diem, *Siva* and *Uma* riding on a single bull occupying the centre, *Brahma* and *Visnu*, with joined hands, and seated respectively on a lotus and a *Garuda*, are in the upper right and upper left corners, while two other figures, an armed soldier and *Karttikeya*, occupying position just below these figures.[7] At Thuy Trieu, however, *Visnu* occupies the central position with *Brahma* on the left and *Siva* on the right. *Siva* rides a boar, and both the God have their hands joined in an attitude of prayer.

VISNU – In India the Lord *Visnu* is the object of worship and devotion as the Supreme God.[8] The cult of *Visnu* known as Vaisnavism flourished side by side with Brahmanism and Saivism in Laos. This fact is attested to by the inscriptions and archaeological objects of the country.[9] *Visnu* was known by various names such as *Purusottama*, *Narayana*, *Hari*, *Govinda*, *Madhava*, *Vikrama* and *Tribhuvanakranta*.[10] The Kings of Laos took delight in comparing themselves to *Visnu* and sometimes

even regarded themselves as his incarnation. Thus Jaya Rudravarman was regarded as incarnation of *Visnu* and his son Sri Jaya Harivarmandeva Sivanandana regarded himself as a unique *Visnu* whose glories surpassed those of *Rama* and *Krsna*, firmly established in all directions.

The epigraphic records are in this respect fully corroborated by the actual images of *Visnu* discovered at Champa. The one erected by Prince Nank Glaum Vijaya and found at Bien Hoa is seated cross-legged in Indian style and richly decorated.[11] He has four arms, two of them hold two clubs, while the other two hold a discus and conch-shell. He wears a sacred thread, a unique feature as it is absent from the other images of *Visnu* in Champa, about seven or eight in number, which have so far been discovered. In some decorative panels *Visnu*, is represented as riding on *Garuda* or seated cross-legged on its back.[12] There are also images of the *Anantasayana* of *Visnu*. The God is lying at ease on the coils of serpent *Vasuki*, whose seven hoods guard his head. From the navel of the God rises a lotus on the petals of which is seated *Brahma* in an attitude meditation. That the scene is laid on the bed of the ocean is indicated by wavy lines with fishes.[13] *Laksmi*, the *Sakti* of *Visnu* also referred to a *Padma* and *Sri*, was a well-known goddess of the country. Several inscriptions of the country give long the history of an image of *Laksmi*, originally installed by King Sambhuvarman and reinstalled by King Vikrantavarman in 731 A.D. The Goddess is frequently represented as having only two arms and holding stems of lotus plant.[14]

Although the great god of the trinity viz. *Brahma*, *Visnu* and *Siva* almost monopolized the homage and worship of the people, the lesser Gods of *Hindu* pantheon were not altogether forgotten. In one inscription we find the reverence to all the Gods and recognises their importance in the following words :-

"In some places *Indra*, *Brahma* and *Visnu*, in some *Vasuki*, in some places *Sankara*, in some places Ascetics, Sun Moon, *Agni*, *Varuna* and in some places images of *Abhayada* (Buddha) appeared for the deliverance of creature." It shows that side by side with the pompous worship of *Siva* and *Visnu* there were popular cults of various Gods and Goddesses.

SIVA – *Siva*, the second God of trinity, had an important position in Laos. Some of the great achievements of Indian *Siva* were quite familiar in Champa. The famous episode of burning *Kamadeva* (cupid) to ashes is again and again referred to. Being struck with the arrow named *Sammohana* by cupid, he reduced the latter to ashes by means of burning fire proceeding from his third eye, but later on again restored him to life. This well-known allegorical myth, depicting *Siva's* absolute

control over sensual passions, is a favourite theme of Sanskrit poets and has been immortalized by Kalidasa in his famous book *Kumarasambhava*. Apparently, this aspect of *Siva's* character made a deep impression upon his devotees at Champa.

The second memorable achievement of *Siva*, stressed in the inscription of Champa, is the destruction of the demon *Tripura* and his three cities in the sky. The third mythological incident about Siva is the story of *Upamanyu*. This has been narrated at great length in the *Anusasanaparva* of the *Mahabharatha* which agrees with the inscriptions of Champa in extolling *Mahadeva* in the most extravagant terms and placing him above all other Gods including *Brahma* and *Visnu*.

In Champa *Siva* was represented both as a human figure as well as *linga* form. The latter occurs more frequently as in India than the image of *Siva*. As a human figure *Siva* is represented in a variety of forms. The image of *Siva* found at Myson are less decorated and much simple in design.[15] In one of the standing style of the image we find that the upper part of the body is nude, while two garments fixed by a belt round the waist cover the lower part. The lower garment reaches almost upto the ankle, but the upper one stops at the knee. There is a roasary round the wrist of the right hand, while the left hand holds a vase. The hair is arranged in three stages on the head. The God has a smiling face with fine moustaches and the third eye is represented on the forehead. Very often *Siva* is represented as seated in an attitude of meditation.[16] Sometimes there is a beautifully decorated halo behind the head.[17]

Siva is sometimes represented as a human figure with extra hands in various attitudes. He abides in eight forms corresponding to hiseight names – *Sarva*, *Bhava*, *Pasupati*, *Isana*, *Bhima*, *Rudra*, *Mahadeva* and *Ugra*. Sometimes, *Siva* is represented as seated *Nandin*, very much in the same style as one sits on a chair. One of the oldest lingas of *Siva* came to be regarded as the national deity and maintained this position throughout the course of history. Towards the close of the fourth or the beginning of the fifth century A.D. Bhavavarman established a *linga* named *Bhadreshwara* in a temple of Myson which soon became a national sanctuary. The king endowed the temple with the land for the maintenance of the officials of the temple. From the middle of the eleventh century A.D. *Srisana-Bhadresvara* came to occupy the position of national God. It is thus absolutely clear that *Sambhubhadresvara* or *Srisanabhadresvara* was regarded as the national deity of Champa from beginning to end, and most elaborate arrangements compatible with wealth and resources of the kingdom were made for his worship.

In addition to *Sivalinga* which attained the position of the national deity,

there were many others though of less importance. The most remarkable among these was a *mukhalinga* of *Sambhu* in Po. Nagar but it never acquired the status of a national deity like *Sambhu-Bhadresvara* or *Srisanabhadresvara*. A tendency to associate with their own names with the gods which were established by them was also prevalent in the country such as King Indravarman – Indravarman *Sivalingisvara*. A number of deities came to be associated with *Siva*. The most prominent among them was of course, the *Sakti* of *Siva* known variously as *Uma*, *Gauri*, *Bhavani*, *Mahabhagavati*, *Devi* and *Mahadevi*. There was also a temple of *Ganesa* (*Sri Vinayaka*) at Nhatrang but statues of this deity and *Skanda-Karttikeya* are rare.

We can conclude that the spread of *Hindu* thought in the counry of Champa was an intellectual conquest, not an exchange of ideas according to Sir Charles Eliot.[18] Indian religious system since the contact with Cambodia and its neighbouring countries in the early centuries of the Christian era made a profound impact on the people inhabiting in these regions and moulded their way of life to a great extent after the Indian pattern. It is no wonder, therefore, that the Indian travellers who founded a new settlement in South-East Asia transplanted to their lands of adoption the religious ideas with which they were at home.

References :

1. Funan was the first ruling dynasty of Kambuja (Cambodia)
2. Chhabra, B.C. – Expansion of Indo-Aryan culture, Delhi, 1965, pp. 69
3. Marshal, Henri, Le Temple de wat phu, Paris, 1943, pp. 2
4. Ibid., pp 24-28
5. Sharan, Mahesh Kumar, Studies in Sanskrit Inscriptions of Ancient Cambodia, New Delhi, 1974, pp. 77
6. Parmentier, H. – Inventaire Descriptif des monuments cams, Vol. II, Paris, 1939, pp. 411
7. Ibid., Vol. I, pp. 518
8. Majumdar, R.C. (edited) – The Age of Imperial Unity, Bombay, 1963, pp. 431
9. Banerjee, J.N., Hindu Iconography, Calcutta, 1953, pp. 24-28
10. Majumdar, R.C., Inscriptions of Champa, Calcutta, 1927, pp. 78
11. Parmentier, H., op. cit., pp. 554
12. Ibid., Vol. II, pp. 422
13. Ibid., pp. 423
14. Ibid., Vol. II, pp. 421-427
15. Ibid.
16. Ibid., Vol. II, pp. 408-409
17. Ibid.
18. Eliot, Charles, Hinduism and Buddism, Vol III, London, 1968, Chapter – XXXIV, pp. 1

Nationalism and Tagore's 'Home and The World'

Yashpal Singh* & **Shikha Singh****

> "Complete social development is possible only through the wholistic development of the universe. Wholistic development of the universe demands healthy constellation. Human beings have an immense power to work, to struggle and to create individually and collectively, as well but, it needs to be fully realized for the service of the universe/ mankind."
>
> *Swami Vivekanand*

Tagore's concept of nationalism is very broad. It suggests love for mankind all over the world. Nationalism as generally directed to a narrow channel affects adversely the interests of the other countries. Tagore feels that such nationalism is bound to stand in the way of human development. It was the prevalence of such feelings among the French and German that resulted in war between the two countries. Every child in France was taught to hate Germans and vice-versa. Such feelings of nationalism are not conducive to the maintenance of peace in the world.

Tagore suggests that nationalism is an organised self-interest of the whole people and the organization of the politics and commence for selfish ends and an organised power for exploitation. This sort of nationalism admits that individual citizens of one's nationality are always right whereas others are always wrong. He makes it clean in his collection of lectures entitled nationalism (1917):

> ... the spirit of conflict and conquest is at the origin and the centre of co-operation. It is like the pack predatory creatures, that must have its victims. With all its heart it cannot bear to see its hunting grounds. converted into cultivated fields. In fact these nations are fighting among

*Ex-Lecturer, Deptt. of English, Guru Shri Gorakshnath School of Nursing, Gorakhnath Mandir Parisar, Gorakhpur

**Assistant Professor, Deptt. of English, D.D.U. Gorakhpur University, Gorakhpur

> themselves for the extension of their victims and their reserve forests. Therefore the western nations acts like a dam to check the free flow of western civilization of power, therefore it is exclusive, it is naturally unwilling to open its source of power to those whom it has selected for its purpose of exploitation.[1]

Thus Tagore rejects the western concept of nationalism in which the people of a particular nation love their own nation and hate the rest of the world. Such nationalism, according to Tagore, is a politically motivated organization of the people to wield power on them. But nationalism has its Bright side also. It has emancipated men from the tyranny of autocratic imperialism. None can deny it as a source of emotional sublimation. It enables man to transcend the bounds of the caste, the tribe and locality. We can not ignore the merit of nationalism, as for example, it creates love for the country, spirit of brotherhood, preservation of the diversities of national cultures, healthy spirit of national rivalry. Therefore Tagore advises the nation of the west to come out of their narrow cell and build a world community on the plane of harmony and co-operation only when the world can live in harmony and durable peace can be guaranteed. It can never be attained by an organization like the **League of Nations** or **United Nations Organization**, purely based on political edifice to safeguard the interest of the 'Great Powers'.

Nationalism according to Tagore, narrows the way of thinking and confines him to narrow circle. It makes man selfish. He wants that all human beings should be given equal status in all spheres and so should be with the nations, for the fuller development. His patriotism and love for mother India as well as ancient Indian culture and civilization was most deep rooted. He regarded the world as the habitation of man's spirit and not a mere reservoir of political power. He accepted the ideal of genuine mingling of the heart of all races. According to him only a free and unconstrained development of the individuality of nations could provide the basis for a genuine universality. The closed wall of nations have to be demolished and the foundations he lad for racial synthesis and cultural co-operation. All elements that create barriers between people have to be substituted by the spirit of interdependence and brotherhood. In this paper I propose to discuss Tagore's concept of nationalism as illustrated artistically and at some length in his novel Home and the World.

'Home and the World' deals with Tagore's concept of nationalism. Sandip and Bimbla represent the narrow sense of western nationalism in the novel. Bimala

is a highly intelligent, fiery girl whose very name conveys both everyday plainness and transcendent power. She marries into a rich, aristocratic family proud of the beauty of its women and equally of its dissipated self-destructive men. However, her husband Nikhilesh or Nikhil as she finds out, has broken the family tradition. Only he has married a girl who is not beautiful; he is a well educated, modern man given to scholarship and social work as well. Bimala comes in contasct with Sandip (Nikhil's friend) when Nikhil invites Sandip for dinner at home. Sandip is a firebrand leader of Swadeshi Movement in Bengal. Nikhil has been supporting Sandip financially whereas he does not support Sandip's narrow nationalism based on caste, religion, reign and the country. In the novel 'Home and the World', two concepts of nationalism have appeared. One is western nationalism represented through Bimala and Sandip and second is the true nationalism of Tagore represented through the protagonist of the novel Nikhil.

Bimala narrates the moments when she came in contact with Nikhil's friend Sandip, a swadeshi leader introduced to her by her husband. Sandip's introduction to Bimala by Nikhil brings about disharmony in his household. It is seen in the novel that Sandip reduces Bimala into joining the Swadeshi Movement and thereby getting her to purloin some money from her husband to support the Swadeshi Movement. 'When Bimala hears, Sandip speech in public, she is thrilled and inspired by his ideals. He appears like a conqueror of Bengal' (Nandy 1994 : 26)[2]. Bimala regrets quite often for not being beautiful. She wishes Sandip could find the Shakti of the motherland manifest in her. She asks herself if Sandip Babu would find the Shakti of motherland in me? (Taogre 1992:31)[3]. Sandip too fires her imagination by making proclaimatory remarks:

> Then the blessings of the country must be voiced by its goddess. This is the reason for my anxiety that you should return, so that my talisman may begin to work from today.[4]

Tagore suggests that the violence is the natural by product of the strategy of mobilization employed by Sandip and his enthusiastic followers. Such a mobilization requires symbols embedded in exclusive cultural religious idiom which Sandip tries to put through the characters of Bimala to represent Hindu goddess. He impresses the peasants as well as Bimala by his fine speeches in the name of the nation and mislead them.

In the name of religion and nation Sandip is trying to prove his own idea of narrow nationalism which divides human beings in terms of caste, colour, religion,

reign, language and nation. The ill-effect of Swadeshi Movement could be seen through the Pandu's episode in the novel 'Home and the World'. Pandu is a devotee of Nikhil's teacher Chandranath Babu (Masterji). Pandu is somehow running his household. Every morning he wakes at dawn and takes a basket filled with paan, tobacco, coloured strings, mirrors, combs etc. which appeals to the farmer women, wades through the knee-deep pond and goes to the area where the lower castes live. Over there he trades his wares for paddy, which fetches him a little more than a purely monetary exchange. Everyday he returns quickly and goes to make sweetmeats at the sweet-shop. When he returns from there, it's late at night. Even after working so hard, he and his family gets two squares meals, a day only a few months of the year. At the very outset he fills his stomach with a jug of water and large portion of his meal consists of cheap variety of banana. At least four months in a year, he only gets one meal a day. Panchu left his wife due to some serious disease and because of lack of money, no medical aid could be provided to her. He borrowed some money from Chandranath Babu (Masterji) for the business of cheap clothes to earn little money so that he could pay his debts gradually and take care of his children. But one day unfortunately a group of supporters of Sandip's Swadeshi Movement stopped Panchu in the way and forced him to burn all his clothes because they were foreign clothes. Panchu denies to burn them and requests them to leave him. But the extremists ignoring his pathetic request burnt them anyway. Thus Panchu falls a victim to Swadeshi Movement. It is not only Panchu who suffers because of Sandip's brand of nationalism but many other small traders and poor people in the whole country.

Tagore is a bitter critic of narrow nationalism on account of which poor and innocent people like Panchu have to suffer. Tagore feels that nationalism represented through Sandip in the novel 'Home and the World' ('Ghare Baire') is a kind of nationalism that robs people of their individuality and reduces them to a mass collectivity. It turns the mass into an impersonal and efficient machinery.

Tagore feels that the concept of Nation and 'nationalism' has been imported from the west which narrows the way of thinking and confines people to narrow circle. Such nationalism makes man selfish and organizes people for a 'mechanical' purpose.

Tagore contrasts the western concept of nationalism in which a nation develops as a spontaneous self-expression of man as a social being. He emphasizes that nations are organic and natural formations that develop when men live in co-operation with one-another. The same idea of nationalism has been projected through the character

of Nikhil in the novel in his argument with Sandip:

> We are free to practice our own religion but others' religion is out of bounds. Just because I am a Vaishnav doesn't mean the Kali worshipper should give up bloodshed. There is no choice. Muslim should be allowed to practice their religion in their way. Don't create a problem over this.[5]

Nikhil does not oppose the worship of the Goddess Bharatmata but he does not approve of the hatred for other nations / religions. His concept of nationalism is to live ones own country, people and religion but at the cost of others. He supports the Swadeshi Movement of Sandip financially but at the same time he suggests Sandip that we should win the faith of the people for the movement by well-wishes of human beings. We should not force them to follow our ideology when they do not accept it willingly. Long before the advent of Swadeshi Movement, Nikhil, a patriot to the core, has done his best to encourage indigenous manufacture in his estates, though without much success. Being a rich Zamindar, he can afford to the luxury of imported goods but prefers the native ones.

Nikhil supports Swadeshi Movement but not at the cost of equality, brotherhood and welfare of the common people. He knows well that Sandip is against him and he is using his money against Nikhil. Nikhil represents the philosophy of non-violence whereas Bimala and Sandip stand in opposition to Nikhil. They favour violence, militant nationalism and hatred to the others in the name of caste, colour, religion, reign, language and territory.

Nikhil's nationalism is to love ones own country and people at the same time respect the people of other countries. His nationalism is to love mankind. He rejects the kind of narrow nationalism which divides people for the sake of nation. Nikhil is the representative of Tagore's thought. Tagore's concept of Swadeshi Samaj and village uplift programme and ideals have been expressed through the mouth of Nikhil. On the other hand Sandip represents the revolutionaries of that time of Bengal. Thus Tagore portrays the contrasting characters in such a way that their political differences could be revealed. Moreover, the novel represents the mental action and reaction of these characters as evident from their stories.

Tagore's central focus in this novel is not the destruction of particular family but the social-political consequences of a movement propagated by militant

nationalists. Bimala's home and her proposed world are, of course, destroyed and this destruction represents at the figurative level, the destruction of the society that had so far managed to live in relative stability and peace. Tagore sees through and exposes the reductive nature of an aggressive nationalism, and he sees it as spawning generations of professional – politicians who could destroy the fabric of society that was held together by its tolerant, plural ways of life.

References:

1. Tagore R. N., Nationalism. pp. 53-54.
2. Nandy, Ashish, Illegitimacy of Nationalism (1994), pp. 26.
3. Tagore, R. N., Home and the World ("Ghane Baire') 1992, pp. 31.
4. Ibid. pp. 34.
5. Ibid. pp. 169.

Inclusive Growth and Equality of Opportunity

Rajesh Pal*

Abstract : There is now a genuine and widespread recognition about the adverse social consequences of rising inequalities in the recent high growth phase, which do not seem to be mitigated through the so called 'trickle-down' mechanism. The government has concerned that high growth alone has not addressed the challenges of 'growth with social justice'; realising these facts whole sections in the XIth Plan document of Government of India has been attributed to "Towards Faster and More Inclusive Growth". Inclusive growth is defined in the XIth Plan as 'growth process which yields broad based benefits and ensures equality of opportunity for all'.

To increase the bargaining power of rural and distressed people, National Rural Employment Guarantee Act, recently named as Mahatma Gandhi National Rural Employment Guarantee Act was passed by parliament in September 2005 and came into force in February 2006. Recent experience shows that the implementation of Right to Information Act holds a great promise for improving the effectiveness of this and similar schemes designed to improve the lot of the poor. Further, Right to Education Act, National Food Security Act and National Rural Health Mission (NRHM) was started to bring the neglected sectors into the mainstream of economic development. Exercise of political power by the common people continues to be swayed by considerations of caste, religion, language and region. Notable constitutional legislative and policy reforms including the 73rd and 74th amendments have demonstrated the Government of India's commitment to increase the political participation of marginalised groups.

Introduction:

Growth is possible only at the cost of some inflation. We also know that there is a trade-off relationship between unemployment and inflation. The benefits of growth percolate to some specific sector of the economy and to particular sections of the society. This type of growth led to the concentration of the resources and wealth to the particular section of the society.

*Assistant Professor, Deptt. of Economics, M.G. Kashi Vidyapeeth, Varanasi (U.P.)

Under mixed economy approach, those industries (i.e., coal, mining, steel, power, and roads) which were critically important for the development of the economy were retained by the government. The private sector was allowed to establish industries and business enterprises, but was subject to control and regulation that came in the form of laws. This was also considered necessary, so that resources and wealth would not get concentrated in few hands. Public sector enterprises were established to eliminate poverty, reduce inequalities in the distribution of income and wealth, achieve economic growth with social justice, create infrastructure, labour welfare, social security and provisioning of essential goods to masses had become corrupt. As a result these enterprises started making losses to the tune of Rs.203 crore in 1980-81 (Pal, Rajesh, 2009: 229). Further, these enterprises failed to eliminate twin problems of our economy i.e., poverty and unemployment completely.

The financial crisis forced the India government to borrow money from international banks such as World Bank and IMF. All these led to the framing of New Economic Policy that aims to pull the country out of economic crisis and to accelerate the rate of economic growth. (Pant, Nalini, 2003: 113). The new economic policy has accelerated the rate of growth but it has not percolated the benefit of growth to these masses of the country. Non-other than our Prime Minister Dr. Man Mohan Singh very candidly admitted in 2009 that the poor are still too poor in India and that the country needed to do much to improve their standard of living. To achieve these goals, he felt that the economy had to grow fast enough to create job opportunities faster than the growth of labour force. Realising these facts, whole sections in the XIth Plan document of Government of India has been attributed to "Towards Faster and More Inclusive Growth." Our Eleventh Plan is being formulated at a time when the economy is taking a leap ahead into fast growth, and at the same time being a vibrant democracy the process is one of inclusive development. Inclusive growth is defined in the XIth Plan as 'growth process which yields broad based benefits and ensures equality of opportunity for all', it stands for 'equitable development' or 'growth with social justice', which have always been the watch words of development planning in India. India's centralised planning process is governed by seven cardinal policy objectives: growth, social justice and equity, modernisation, self-reliance, food, productivity, and employment.

Inclusive growth is, however, not new, though it seems to be new concept. It is akin to the principal goal of planning in India: to accelerate the pace of economic growth with social justice (referring to equitable distribution of income) implies a situation of economic development. It implies not only more and more of goods and

services are produced, but also the benefit of greater production accrues to larger sections of the society. Inclusive growth is not only desirable from equity point of view but also important for stable growth, pro-poor growth and growth with human face. Inclusive growth therefore focus on creating both opportunities and making the opportunities accessible to all. Access implies that economy is providing the means to bring opportunities and capability together. Further security is an important component of inclusive growth. Security implies the provision of means for people to protect themselves against a temporary or permanent loss of livelihood. The inclusive growth can only be achieved by combining economic growth with human face. Thus the strategy of inclusive growth requires four factors, which enable the people to become an active partner in the process of socio-economic growth. These factors are opportunity, capability, access and security which new policy failed to provide all. On the other hand, there is a pressing need, in fact, compulsion, if one is serious about a really inclusive growth, to do something to fill the vacuum and correct the imbalances left by the operation of the globalisation policy.

The crores of poor working women have the ability and enterprise to move the country out of poverty, but the policy-makers are afraid to let them take a lead. Mohammad Yunus of Bangladesh has shown that poor women can take the lead in development. When Mohammad Yunus first started Grameen Bank, he started giving loans to men, but the repayment rate was poor and Grameen Bank could not grow. He then observed that women were borrowing and repaying much better than men. Development without keeping the poor and women at the centre, will neither remain "fast" nor "inclusive". The poor and women, especially the poor women, are the key to India's faster and sustainable growth (Bhatt, 2006: 04).

In the present context of globalisation, associated with trade and financial liberalisation, the contribution of information and communication technology to GDP growth is rising sharply and becoming the driving force behind rising inequalities, as it raises the demand for skills that are in short supply and highly unequally distributed between different regions, income groups and between males and females (Rao, 2009: 5). One of the objectives of the new economic policies is to generate employment. Though new jobs are being created in the economy, it is not sufficient to meet the increasing job requirement in the country. The new policy has failed to generate additional employment opportunities, particularly in rural areas, where more than 65 percent of the total population live. There is now a genuine and widespread recognition about the adverse social consequences of rising inequalities in the recent

high growth phase, which do not seem to be mitigated through the so called 'trickle-down' mechanism. Besides, the benefits of the globalisation have accrued only to one part of India: the India of IT parks and financial markets, businessmen and traders, corporate leaders and executives and, yes, also the white-collar workers in new corporate hubs like Gurgaon. Let us call this globalised India. Then there is other India: Bharat as once we used to call it. The India of small farmers, tribal's clinging to their disappearing forests in Orissa, landless dalits living in the shadow of upper caste atrocities, shivering Bihari workers building roads in the frozen deserts of Ladakh. It is another India till recently untouched by globalisation. This other India is by far the largest constituency in this country. Mobilisation of other India within the democratic space and within the process of socio- economic development is probably the single greatest political, social and economic challenge of our times. (Mundle, 2010). This underlines the need for effective domestic policy to expand the opportunities for education and acquisition of necessary skills in the less developed areas and for the socio-economically disadvantaged sections. Inclusive growth is regarded as new mantra of development. For inclusive growth, rapid economic growth and rapid human development should go hand in hand.

The non-inclusiveness can be gauzed from the fact that with about 27 per cent of the population in India is still living below poverty line. On the other hand, India boasts of 36 dollar-billionaires much ahead of Japan and China and couple of them among the ten richest men of the world. The main causes of inequities are lack of governance or poor governance, asymmetry of education, skills, opportunities, infrastructure and health care etc. These factors varies from region to region, state to state and regional, rural and urban disparities.

Infrastructure: Regional and Rural Urban Divide:

Infrastructure:

Economic infrastructure and social infrastructure facilitates economic growth and social development in a manner like an axel facilitates the movement of a wheel. Thus, infrastructure of a country is the basis of a growth and development of a country. Poor infrastructure implies a poor state of growth and development; a sound infrastructure implies a robust state of growth and development (Ohri, jain, 2006: 200). The Indian economy continues to be constrained primarily by the insufficiency of physical and social infrastructure where the government plays a major role (Rao,2009: 05). At a little over 4 per cent of GDP in the base year of the Eleventh Plan, public investment in infrastructure was seriously deficient. This is explained

by years of underinvestment relative to the requirements (World Bank, 2008). In view of the steep decline in the share of public investment in the overall investment, the Planning Commission admits that there is "a very great limitation on the influence that fiscal quantities, allocations and strategy can directly exert on growth rates, especially at state level", and suggest that "states have, therefore, to focus on providing the necessary policy framework and supporting environment that makes economic activity possible and attractive enough for private sector investments (Rao, 2009: 06). But, can such a 'supporting environment' make good the gaps in public investment in infrastructure? Historically, due to the differences in land tenure systems of governance in terms of skills, responsiveness and the quality of delivery systems (Rao, 2009: 07). It should be noted in this context that unlike capital – which is highly mobile across regions and continents – good governance couldn't be transplanted in an area, as it evolves basically within the prevailing socio-political structure over a long period.

The current growth and development model centred on big metros is unsustainable. Having experienced years of economic migration, these large cities are literally bursting at the seams. They are left with creaking infrastructure – compounded by shoddy urban planning – and poor civic amenities, all of which is reflected in the fast depreciating quality of life. Yet people continue to be drawn to metros due to the allure of better career prospects. The only way to reverse this trend is to have multiple growth poles spread across the length and breadth of the country. It is encouraging that many of the small cities showing robust economic growth are located in the BIMARU regions. Small cities and towns appear to be doing more to power India's growth story than big metros. Confirming this are the latest income tax statistics, which indicate that Tier II and Tier III cities like Patna, Lucknow, Meerut and Kanpur have far outstripped Delhi, Mumbai, Chennai and Kolkata in terms of growth and corporate tax collections. In fact Patna has seen as much as 95 per cent growth in personal income tax figures over the 2009-10 period compared to a mearly 4 per cent for Delhi and 6 per cent for Mumbai. Such a shift towards growth driven by regional centres can help mitigate the problems ensuing from unequal development and, therefore, needs to be encouraged (The Times of India, 2010: 12). Apart from releasing the creative energies of the people viability of smaller states may have contributed to better governance, attracting greater private investment from outside as well as planning and utilising resources more efficiently ((Rao, 2009: 07). Conducive conditions needs to be created to encourage India as well as foreign investors to increasingly invest in small cities and townships. Crucial to this is creating

sound infrastructure. There needs to be a significant number of quality schools and colleges to churn out skilled professional to cater to the needs of emerging businesses. This in turn will have a positive trickle-down effect and galvanise the rural economy of the respective states (The Times of India, 2010: 12). Apart from releasing the creative energies of the people viability of smaller states may have contributed to better governance, attracting greater private investment from outside as well as planning and utilising resources more efficiently.

Regional and Rural-Urban Divide:

Rapid economic growth has led to a greater urbanisation in India and generated vast gaps between rural and urban areas. Although 65 per cent population lives in rural areas, still rural areas lack basic amenities in terms of economic infrastructure and social infrastructure. Inadequacy of infrastructure in the less developed regions and rural areas in general in the country is responsible for the inability of such areas to fully benefit from the opportunity opened up by economic reforms including globalisation, leading to growing regional and rural-urban disparities in the country. According to the Eleventh Plan, higher level of infrastructure development is envisaged "especially in rural areas, and in the remote and backward parts of the country consistent with the requirements of the inclusive growth at 9 per cent per year". But from the information given in the plan document, it is not possible to find out how the infrastructure planned is going to be spread over different states, on the one hand, and between agriculture and the non-farm sector including small towns, on the other

There is no increase in central assistance in the Eleventh Plan for infrastructure development of the Backward Regions Grant Fund, Special Plan for Bihar and Action Plan for the undivided KBK (Kalahandi-Bolangir-Koraput districts of Orissa), which have only been protected at the Tenth Plan level. Such assistance constitutes less than 1 per cent of total 11th Plan outlay for all states. It is not known how the performance of Bharat Nirman – flagship programme designed to create infrastructure - is tilted in favour of the less developed states (Rao, 2009: 06).

The livelihood of poor farmers, small and medium size entrepreneurs, tribal and traditional communities are increasingly under threat as Indian industries and multinational corporations encroach on their habitats for natural resources and business enterprises. The rapid growth of services has provided jobs only to educated and english speaking youngsters. A major section of the society has been deprived from the opportunities that globalisation and economic reforms have provided.

Green Revolution in the 1960s was triggered off mainly by the availability of yield increasing technology. There is no comparable breakthrough in agricultural technology in the recent period except in the case of cotton, supported by the private sector (Rao, 2009:08). Structural change in economy should follow agriculture-industry-service sequence. In GDP shares, India jumped from agriculture to services without concentrating on manufacturing. Agricultural development should be given priority for more inclusive growth. Stepping up agricultural growth is essential for reducing poverty, land issues, irrigation and water management, credit research and extension, marketing etc, have to be improved in the next decade to improve agriculture growth to eliminate regional rural-urban divide. The decline in the relative contribution of agriculture to GDP is leading to out- migration of male labour resulting in feminization of agriculture (Rao, 2009: 08). While this is adding to the work burden on women, it is also opening up new and more remunerative opportunities for them such as dairying, horticulture, fisheries and agro-processing in which they have been traditionally engaged. These activities being land-saving, the constraints faced by women farmers lacking in titles to land could be eased to some extent provided they can get and easy access to the needed resources and services. This would be possible only if women officers and functionaries are inducted in large numbers in the services chain for extension, credit delivery, marketing, and insurance, etc. (Rao, 2009: 08). But despite this, rural economic development is still not showing desired result.

The manifestation lies in the fact that rural inclusivity is not considered in its entirety. Inclusive rural growth should encompass agriculture productivity, marketing of agricultural products, financing facility, food security and above all sustainability of all types of revolutions in agriculture in India such as green revolution, white revolution, black revolution, grey revolution, blue revolution and rainbow revolution etc. With information technology, energy input-output ratios, extension services and labour costs, Indian agriculture has tremendous potential that can unlock new opportunities in shifting terms of trade in favour of rural economy, which may help in bridging the gap between the regional and rural urban divide. The studies on the growth of rural non-farm sector in India show that though output and employment have been growing in this sector yet it has not really taken-off so far because of slow growth of agriculture, insufficient development of rural infrastructure and the weak public support systems. Therefore, along with the high agricultural growth there is a need for providing an enabling environment through augmentation of rural infrastructure like roads, power and communications, increasing the institutional

credit flow to the small and tiny sector, building of strong public support systems for improving market information and marketing networks, skill and technology up-gradation and their dissemination through training, especially for the weaker sections, and for promoting quality consciousness and quality control.

Poverty and Unemployment:

In 2009 alone, an estimated 13.6 million more people in India became poor or remained in poverty than would have been the case at 2008 growth rates. In other words while a dip from 8.8 per cent growth in GDP averaged from2004-05 to 2006-07 to the 6.7 per cent estimated for 2008-09 may be nothing like the recession faced by the West, its human consequences for India were probably worse. The 2.1 per cent decline in India's GDP growth rate effectively translated into 2.8 per cent increase in incidence of poverty (The Times of India. February 11. 2010).

Mahatma Gandhi National Rural Employment Guarantee Scheme, 2005 (MGNREGS), has been extended throughout the country. The significant rise in the rural wages market reported from several parts of the country and the widespread demand from the farmers to reschedule the operation of the employment guarantee scheme from busy to lean season testifies to the effectiveness of income generation for the poor from its implementation. Further, recent experience shows that the Right to Information Act being implemented in the country holds a great promise for improving the effectiveness of this and similar schemes designed to improve the lot of the poor (Rao, 2009: 04).

Generation of adequate employment opportunities, particularly for the socio-economically disadvantaged sections, is a key to achieving inclusive growth. In this context, the deceleration of employment growth – more so for weaker sections - in the post reform decade ending 2004-05, when there was acceleration in GDP growth, should be a matter of concern. Employment is an area, which indicates that growth process is falling in inclusiveness. In India during the 1999-2000 and 2005-06 agriculture and allied sector accounted for 78 per cent and 73 per cent of all employment respectively. Now it is virtually ceased to employ more labour. As a result, rural employment growth rates collapsed to less than 0.7 per cent. However, during 1993-94 to 2004-05, rural employment growth rates accelerated in both the farm and non-farm sector, despite the slow-down in agricultural production. But still, this growth of rural employment remained below labour force and less than half urban growth rates. The studies on the growth of rural non-farm sector in India show that although output and employment have been growing in this sector, it has

not really taken off so far because of slow growth of agriculture, insufficient development of rural infrastructure and the weak public support systems (Rao, 2009: 09). Industry has accounted for 11 per cent and 14 per cent of the total employment during 1999-2000 and 2005-06 respectively, while service sector has provided employment to 11per cent and 13 per cent during the same year respectively (The Times of India, November 19, 2008). It is clear from the data that service and industry sector has been benefited more from the accelerated growth of the Indian economy. These sectors required skilled labours, which is lacking in the Indian economy consequently unskilled labours become unemployed. They have no place to go anywhere except in agriculture and unorganised sector. Globalisation has created unemployment, sectoral imbalace, regional, rural and urban disparities.

Major initiatives have also been taken in the social sectors like education and health through Sarva Siksha Abhiyan (SSA) and National Rural Health Mission (NRHM). The allocation for these social sectors has been stepped up substantially in the 11th Plan. The allocation of funds to the poor states from the Centre during 2007-08 for programmes like NRHM, SSA and poverty alleviation was well above their share in population .Some other notable initiatives in this field are strengthening the mid-day meal scheme, the Right to Education Act and the National Food Security Act. Government has also announce the Programmes for Welfare of the Minorities aimed at enhancing opportunities for education, employment, credit support and ensuring an appropriate share in infrastructure development scheme (Rao,2009:04).

With the coming into force of the Unorganised Workers Social Security Act, 2008, over 90 per cent of the unorganised workers in the country would get the benefit of health, life and disability insurance, old age pension and group accident scheme (Rao. 2009: 04).

Corporate social Responsibility and Public-Private Partnership (PPP):

In the age of globalisation, corporations and business enterprises are no longer confined to the traditional boundaries of the nation-state. A growing awareness about the need for ecological sustainability, inclusive growth and the new economic framework, with unprecedented stress and image merchandising, have paved the way for a new generation of business leaders concerned about the responses of the community, inclusive growth and sustainability of the environment. As the pace of urbanisation continues and liberalisation opens up India to global consumption patterns, migration is being taking on large scale especially from rural to urban area in order to enjoy the facilities of urban cities. As a result cities are over crowed with

problems like slum, sanitation, housing, pollution, scarcity of safe drinking water etc.

Whereas business cannot be expected to take on the role of governments, in a situation where a majority of the population lives below the poverty line and has little or no access to basic public services such as health, education, water, and electricity, and where there are a multitude of complex sustainability challenges, Corporate Social Responsibility, certainly has a potential for becoming a real tool for development – human, social, and economic (Chatterjee, 20006: 23).

For years public sector and corporate houses (private sector) have been viewed as adversaries in different camps. We need to move away from this mindset and together find solutions that will meaningfully address the problems of inclusive growth in general and that of community in particular. Given the extent of poverty in India, the low level of literacy, especially among women, and the abject health care facilities available to the weaker sections of the society, a lot more needs to be done – especially by the corporate sector, which has the financial and organisational muscle. In partnership with the government and civil society, it can make a significant and measurable contribution to improving the lot of the less fortune men, women and children of our country (Chatterjee, 2006: 24)

Education:

After independence government has adopted a number of incentives for promoting education. Various programmes and schemes may have promoted school enrolment. But many of these children do not attend school regularly. Figures show that on a given day four of ten children abstain from school. The Right to Education Act, 2009 promises free and compulsory quality elementary education to all children in the age group of 6-14 years at neighbourhood school. There are approximately 92 lakh out of school children in the country. The Right to Education Act, 2009 aims to bring these children back to school. The head teachers are deployed on election duty while the shiksha mitras are rendering their services in the ongoing pulse polio programme. So, kids come to school only for mid-day meal and disperse thereafter. The shortages of teachers may only be guessed from the fact that each school must have a head teacher which would mean that the state resource is left with remaining teachers and shiksha mitras. The commitment to ensure education to every child is a sob story in urban areas; kids enrolled in schools running in small rooms hardly seem to be learning any meaningful things. Bringing eight million out-of-school children into classes at the age- appropriate level with the support to stay in school

and succeed posses a major challenge necessitating flexible and innovative approaches. States such as Bihar and Uttar Pradesh, which have the largest number of children out of school, will also require strong support to close the gaps. Millions of children will benefit from this initiative ensuring quality education with equity. The Right to Education Act will propel this great nation to even higher heights of prosperity and productivity, by guaranteeing all children their right to quality education and a brighter future (Hulshof, Karin, 2010). After passing of The Right to Education Act, 2009 still number of children could be seen working at dhabas and other places. If the statistics of labour department are to be believed, there were 2,539 children were working in hazardous and non-hazardous industries in the Varanasi district from December 10, 1996 to October 2009. However, 1749 were rehabilitated educationally. But, unofficially figure of such children may be many times higher (The Times of India, April 2, 2010).

The fundamental right promises one teacher for 30 students in primary schools and basic infrastructure in all schools within three years. It also states that teachers must have a B.Ed. degree and their training should be complete within 5 years. It is hard to imagine at this point keeping the current terrible education scenario across the nation. Implementation of the act will be the joint responsibility of Central government, stakeholders, including parents, children, NGOs, state governments and local governments. Though the bill on right to education ignores issues, such as education for children below six and above fourteen still it is a revolution in education and if implemented religiously can bring a pleasant change.

In a globalised economy, a large pool of skilled workers is indispensable for enjoying the opportunities spread by the globalisation and the economic reforms. It is crucial to invest in quality education and in vocational education and training if India's economy is to develop and remain competitive in the world market. Inclusive growth in education system must include two qualities: a. social consciousness based on love for humanity, sense of duties, health conscious, and b. employment oriented education.

Policy for Inclusive Growth:

An inclusive growth policy should focus on high and sustainable growth rates and should emphasis on social inclusion to ensure equal access to opportunities and security. Inclusive growth should encompass social structure and social policy along with development of infrastructure. The prevailing social structure is characterised by inequalities in land holdings and other forms of wealth, status and power. Because

of this, achieving inclusive growth is far more challenging than stepping up the GDP growth rate per se. This is borne out by the fact that, in the past, slippages in realising targets in respect of sectors bearing on inclusive growth, e.g., agriculture, poverty reduction, primary health, elementary education and reducing regional disparities in development etc., have been far more significant than the slippages in respect of GDP growth. Apart from social security designed for poor and for those who are living below poverty line. Developing country like India should focus on social policy like financial inclusion, land policy and inclusive governance.

Financial Inclusion:

Financial inclusion is not only about credit and number of bank accounts held by the weaker sections, but providing wide range of financial services, including saving accounts, insurance and remittance products at an affordable cost to the vast sections of disadvantaged and low income groups. Unrestrained access to public goods and services is the sine qua non of an open and efficient society. Financial inclusion should be measure not only by the number of bank accounts held by the weaker sections, but also by the amounts borrowed by them, which show a more dismal picture. For example, the share of direct accounts with a credit limit of less than Rs. 25000 in total direct accounts declined from 97 per cent in 1990 to 67 per cent in 2005, while their share in outstanding direct credit declined from 0.66 per cent to 0.23 per cent in the same period (Rao, 2009: 11). The basic cause for financial exclusion, often missed, is a mindset lacking in social concerns. For instance, paradoxically, a small farmer was made to pay an interest rate of 12 per cent while a highly rated corporate entity could raise money from banks at 6 per cent (Joshi; 2008).The experience with the linkages of the banks with the Micro Finance Institutions and Self-Help Groups (SHGs) clearly demonstrate that poor are bankable: Even when margins are low, high volumes can make the business profitable. The experience with the linkages of the banks with the Micro Finance Institutions and Self-Help Groups (SHGs) clearly demonstrate that poor are bankable: Even when margins are low, high volumes can make the business profitable. Innovative institutions and methods for the delivery of credit are called for, such as Group-Lending to Small and Marginal Farmers, and using NGOs, Farmer Clubs, SHGs, for credit delivery. In a bid to deepen banking operations to remote villages and among the poor people, who so far remained outside the purview of the banking operations, the reserve bank of India has started special drive, which are: General Purpose Credit Card (GCC) Facility, No-frills Account Micro Finance, Business Correspondent

Model etc.

Land Policy:

The gravity of the implications of special Economic Zone (SEZ) policy may not dawn on the policy-makers living in their cocoons but the immediate brunt of these measures has to be borne by the peasantry whose source of livelihood, and very existence as citizens with their socio-cultural ties are under a threat owing to the imminent loss of their land-holdings (Kabra, 2006: 07). Among the issues now surfacing, the most strident issue, of course, concerns the transfer of prime agricultural land to non-agricultural and may be quite low socio-economic priority uses in the non-processing areas involving unjust stripping away of the farmers; lands especially because the government intervenes on the side of the SEZ developers to acquire the farmers' lands. It also poses a threat to the already precarious food security as the area under cultivation is moved out of agriculture and thus distorts the land use pattern from the long-term ecological perspectives. Goods and services likely to be produced in the SEZs cannot go far to help absorb labour to any appreciable extent (since these goods are directed towards the existing demand of the rich for sophisticated, high price goods and services, whether abroad or within the country, and are likely to make little use of the labour supply looking for work). Nor can the methods of production (the technology) available have a bias for liberal use of labour as compared to sophisticated, high productivity capital goods in these days of highly competitive unregulated markets.

Export production as a higher priority over the production of mass consumption goods for the domestic market is neither sensible nor effective in itself for creating a large and growing number of employment opportunities (Kabra, 2006:11). While raising agricultural productivity is a must to cope with the shrinkage of agricultural land, the slow growth of non-farm opportunities for employment and livelihoods and lack of social security for small holders argue for a careful and calibrated approach for land acquisition.

Inclusive Governance:

Governance is not simply a matter of particular administrative arrangements, procedures, monitoring etc. in view of the all pervading influence of the prevailing social structure on decision making as well as implementation processes, governance has to be shaped in the context of on-going social change through the functioning of our democratic system. Therefore, democracy and state power have to become

instruments for social transformation. This requires broadening and deepening of our democracy by effectively extending it to the grassroots.

It has been increasingly recognised that centralized approach has not produced desired results, especially in terms of the inclusion of marginalised groups, especially women within the governance processes. Notable constitutional, legislative and policy reforms within the last decade, including the 73rd and 74th amendments to the constitution have demonstrated the Government of India's commitment to increasing the political participation of marginalised groups, especially poor women (Government of India, 2006: 113). Women's political participation has yielded positive results. Despite such positive results, women remain largely excluded from the Panchyati Raj Institutions and other local governance structure. Experience has amply demonstrated that participatory or inclusive governance is indispensable for achieving inclusive growth. This is woefully lacking at the grassroots level where the formulation of schemes is not quite in keeping with the local needs and circumstances, and administration is not accountable to the people. It is naive to expect genuinely inclusive governance without political, social and economical inclusion of social groups hitherto not having access to political power at different levels.

Conclusion:

Even though India's economy has more purchasing power than that of Britain, France and Russia (The Times of India, October, 31, 2010), yet there are many who are not able to earn $1.25 per day (The new global poverty was updated from $ 1.08 per day at 1993 prices to $ 1.25 per day at 2005 prices). Even now, almost three-fourth of our population resides in rural areas and almost the same proportion is still dependent on agriculture for sustenance. We cannot allow India to be divided into two distinct zones, one a modern, competitive, prosperous one and the other a stagnant, backward one. The benefits of economic reforms and globalisation must need to flow to all sections of society, particularly to rural India. Sustainable rapid economic growth with opportunity, capability, access and security to the masses under democracy is the only way to create an 'Inclusive Society' that is an inevitable condition for inclusive economic development. Inclusive economic development promotes political, social inclusion and economic inclusion.

References:

- Bhatt, Ela R (2006): "Lesson for India", Mainstream, Vol.XLIV No.44, New Delhi, October, 21st.
- Chatterjee (2006): "Corporate Social Responsibility vis-a-vis Corporate Social

Sustainability" Mainstream, Vol.XLV No.44, October, 21.

- Government of India (2006): "Report of Working Group: *Empowerment of Women* for the XI Plan".
- Hulshof, Karin (2010): "Follow the Learning Curve", The Times of India, April 1, 2010
- Joshi, Deepali Pant (2008): "Financial Inclusion", Cambridge University Press, India Private Ltd.
- Kabra, Kamal Narayan (2006): "Special Economic Zones: A Baneful Package" Mainstream, Vol.XLV No.44, October, 21.
- Mundle, Sudipto (2010): "Mobilising the other India",The times of India, October 05.
- Ohri,V.K. and Jain, T.R. (2006): "Indian Economic Development", K.K. Publications, New Delhi.
- Pal, Rajesh (2009): "Indian Banking and Globalisation", Adhyayan Publishers and Distributiors, New Delhi.
- Pant, Nalini (2003): "Contemporary India", NCERT, New delhi
- Rao, C.H. Hanumantha (2009), "Inclusive Growth: An Overview of Performance and the Challenges Ahead", in presidential address at the 92nd Annual conference, The Indian Economic Association, Bhubaneswar, December, 27-29.
- The Times Of India, November 19, 2008
- The Times of India, September 27, 2010
- Ibid, April 2, 2010.
- Ibid, February 11, 2010.
- World Bank (2008): Report of the Commission on Growth and Development", Washington.

Ploughing Ceremony of Thailand : Indian Origin

Preeti Vishwakarma*

Introductory

Thailand is a South-East Asian country. Siam (modern Thailand) has been in close cultural contact with India. It is true, in ancient literature of India, we have no specific reference to Siam, but frequent reference to *Suvarnadvipa* suggests that the ancient Indians were probably familiar with Menam valley and Malay-Peninsula. This further supported by archaeological finds at Pong Tuk and *Phra Pathom* Chedi in Nakorn Pathom province (Thailand), which include the Buddhist symbol the *Dharmachakra*. This undoubtedly suggests that Buddhism had reached Thailand even before the Christian era, because the *Dharmachakra* belongs to the early phase of Indian art when the Buddha was represented only through symbols.[1]

The present paper presents a descriptive account of the Brahmanical origin of the Ploughing ceremony which influenced almost all the walks of Siamese life in those early days and moulded its policy and administration. This important ceremony is performed up to the present day in the country in order to usher in auspiciously the tilling of paddy fields. The ceremony of the first ploughing, known as *Bidhi Carat Nangala* in Thai or popularly as *Rek Na* is always performed with full pomp and grandeur. It is always witnessed by His Majesty the King and the Court. It takes place at the beginning of May throughout the whole kingdom. The day is fixed by the *Brahmanas*.[2]

The Court and the *Brahmanas* -

We know that Siam was a stronghold of the *Brahmanas* in the early-medieval period of its history. *Ruang Nang Nabamasa*- a Thai book (The story of Lady Nabamasa) gives in detail the influence of the *Brahmana Panditas* in Thai court. The author of the book was the daughter of a *Brahmana* who received patronage in the Sukhothai period (1257 A.D. to 1350 A.D.) and this book is the best source

27D, Hirapuri Colony, University Campus, Gorakhpur

material for knowing the Brahmanical and other traditions of the Thai people.

In Ayutthaya period (1350 A.D. to 1767 A.D.) also, the *Brahmana Panditas* exercised tremendous influence in the court. These *Brahmanas* are said to have been recruited mostly from North and South India. These *Panditas* discharged various functions at the court such as interpreting supernatural omens to the king, helping in the work of calendar making and fixing auspicious days for state ceremonies. The chief among them used to be a royal chaplain. But their most important duty was to officiate at the state ceremonials, particularly the anointing and crowning ceremony. Though it is difficult to say, when Brahmanism entered Siam. We can, however, guess on the basis of available data that since Siam formed a part of Kambuja empire about 8th or 9th century A.D., she was naturally influenced by the religious condition of that country. It has been therefore, rightly suggested that Siam received Brahmanism indirectly through Kambuja where it was well established by that time. It may also be presumed that Brahmanism was introduced in Thailand when historical facts were not recorded. But, considering all the aspects it seems that the former view is more plausible and nearer the truth.[3]

The *Brahmana* priests and scholars played a great role in the cultural life of Thailand like other adjoining regions of South-East Asia. Their attendance at the royal court was indirectly responsible for much of the people's belief in this religion and most of the royal ceremonies and activities were conducted in accordance with the Brahmanical concept as interpreted by them. Infact, Brahmanism influenced every aspect of Thai life. The *Brahmana* priests officiated at the king's coronation, tonsorial ceremonies, oaths of allegiance to the king taken by officials, royal weddings, royal cremations and first ploughing ceremonies.[4] Besides these, they also cast and set the favourable time for ceremonies, analysed parlance interpreted dreams of the king, predicted victory or defeat in war and scarcity, sufficiency of rainfall.

The *Brahmana Panditas* functioning in the Siamese court in the present time constitute a small body of men who perform duties in connection with those ceremonies of the state that are not wholly Buddhist. One can discern in their features a trace of Indian *Brahmana* blood but since no female *Brahmanas* ever accompanied them from India, they intermarried with the people of the country and so this trace of Indian blood is now but slight. They wear their hair long, in the form of a *chignon* and on ceremonial occasions don the Brahmanic cord and wear white (a Siamese lower garment called *phanum*) together with a white jacket, embroidered with silver flowers in the case of the Head priest. They represent two sects- the *Vaisnavas*

(*Brahmana Bradhipasa*) and *Saivas* (*Brahmana Bidhi*) but they have in Bangkok three temples in one enclosure, the larger one (that on the south) being dedicated to *Isvara* (*Siva*), the middle one to *Ganesa* and the northern one to *Naryana* (*Visnu*), the houses in which the Brahmanas live in the vicinity.[5]

The *Brahmanas* of Siam are also known as *Phrams*, which is a corruption of the word *Brahmana*. They constitute a small community of Bangkok who live near their temple *Vat Bot Phram*- the Pagoda of the Sanctuary of the *Brahmanas*. Thus, the *Brahmanas*, the scholars and the priests have played a great role in the all-round progress of Thailand.[6] The presence of the *Brahmanas* at the court was indirectly responsible for much of the people's belief in Brahmanical and *Hindu* deities and Indian magico-religious practices. From Sukhothai period up to the present day most of the state ceremonies have been a combination of the two religions- Brahmanism and Buddhism. Even at the present time Brahmanical faith and rites are practices in Thailand.

Performance -

In the reign of King Mongkut, popularly known as Rama IV (1851 A.D. – 1868 A.D.), some Buddhist elements were introduced into the Ploughing ceremony. A pavilion was erected in the Pramane ground and an image of the Lord Buddha was placed there. Buddhist priests were also invited to the ceremony to make a recital.[7] And so we see that on the afternoon of the same day, Buddhist monks carry out the special image of the Buddha in procession in connection with the minor degree of the *Barus Satva*. Like the Buddhist monks, the *Brahmana* also carry the images of the *Hindu* gods to the crown *Padi* fields in procession. They place them on an altar in a ceremonial pavilion. There they perform religious rites on the usual lines.

Formerly it was the king himself who performed this rite. But is still the custom for the king to appoint a temporary substitute, who in this case is always the Minister of Agriculture- *Phya Raek Nah*, the successor of the ancient *Baladeva* (*Krisna's* brother) or Head of the Department of Lands. The object of ploughing by the king or his substitutes leading the ploughing is to set an example to his people and induce them to be industrious in cultivating the land.[8]

The day of the ploughing ceremony is the official start of the rice farming season and the correct name should really be "The ceremony of the First Ploughing".[9] On the preceding day, the King gives his benediction to the Lord of the Harvest and the Celestial Maidens at the Chapel Royal of the Emerald Buddha. In recent years,

the former has almost invariably been the Director-General of the Rice Department.

On the morning of the ceremony day the gay cavalcade proceeds from the Ministry of Agriculture to the Pramene ground, venue of the ritual. The temporary king or *Phya Raek Nah (Baladeva)* is carried on a palanquin in procession to the crown *padi* field. This procession consists only of ceremonial drummers, processional umbrella-bearers, a body-guard bearing ancient weapons and pages carrying the insignia of the minister. On arrival at the field which is protected from the instruction of evil spirits by *rajavat* fenus erected at each corner, the presiding official descends from the palanquin and goes to the pavilion of the *Brahmanas* and lights incense sticks before the images of the deities. After that he has prayed and lighted the candles and jossticks in front of the altars, the *Brahmanas* pour lustral water into his hands. The presiding official in turn puts several drops of it on his hand.

The ceremony begins for the spectators with the offering to the Lord of the Harvest. This offering is of three gold-embroidered pieces of folded cloth called *'Panung'* of different lengths. The presiding official must put on one of them and his choice will constitute an omen permitting the prediction of the season to come. In case he chooses the long one, a drought is foreseen. The shortest one means that abundant rains may ruin the harvest. But if good luck or rather divine inspiration makes his choose the *'Panung'* of medium length, the favourable omen is welcomed with joy when at the crowd and advances towards the plough placed before the royal pavilion.

Then the ploughing ceremony begins. Lustral water is sprinkled on the ground in front of the plough which has been anointed. It is stored by the Lord of the Harvest. He then takes the glided handle of the plough which has been wrapped in red cloth by the *Brah Maha Raje Guru* (Chief of the *Brahmanas*) and whips up the pair of the magnificent oxen caparisoned in harness of red velvet and gold-thread while the senior *Brahmanas* chant rituals and blow the conches. Three concentric furrows in each direction are ploughed and at the rear four celestial Maiden of the nobility, called the *Nan-devi* follow sowing rice seeds from gold and silver baskets into the newly turned grounds. Three-full circles are made to complete this part of the ceremony.

The sacred oxen are then unyoked and presented with seven containers of rice seeds, liquor, seasame seeds, maize, beans, water and grass and from the order in which the oxen choose to eat, the *Brahmanas* can predict which crops are going to grow best in the coming season. From all these omene-choice of the *'Panung'*, by

the minister and choice of cereals and liquids by the oxen – the *Brahmanas*, who have withdrawn to the foot of the altars, draw conclusions which are read to the king by a civil servant from the Ministry of Agriculture.

Thus the ploughing ceremony ends and the Lord of Harvest and his entourage leave in procession for the Ministry of Agriculture. The king and queen take their leave too but the vast crowd now burst on to the field and gather up the hallowed rice grain fertilizers believing that mixed with their own seeds and planted on their farms a good harvest will ensure. It is the end of their rest period and the beginning of the busy farm-work ahead when all the family will be active from dawn to dusk in the paddy field ploughing is also carried out simultaneously in two or three provincial centres by a local official deputed by the king.[13]

This kind of festival is of great importance to an agricultural country like Thailand in that it inspires confidence, diligence and hope in the farmers. It is a great stimulating moral force. The king himself sets an example to his people and leads the fashion in farming. The minute ceremonial details are no doubt designed to serve as good omens removing fears in the hearts of farmers and peasants with regard to see dangers that lie ahead such as too much or too little rain, too much or too little water and rice pests.

The objective of the ploughing is to call upon the goodwill of the divinities for the coming harvest and especially to consult those divine the outcome of the harvest. As rice constituted Thailand's principal wealth this ceremony acquires a particular importance in the eyes of the people.[14]

Historicity of the ceremony :

This ceremony of Brahmanical origin has been in existence for centuries not only in Thailand but in Burma, Cambodia and China besides India (from which it came). Antiquity of this function is testified by the ploughing of field of Punaura near Sitamarhi town (Bihar state) by King Janaka of Mithila and discovery of Sita by the ploughshare which struck the earthen pot containing her in the ground. It was this Sita, who was later married to Rama – the son of King Dasaratha of Ayodhya. There is another story related to the early life of Gautama Buddha himself narrating a similar ceremony by his father King Suddodhana of Kapilavastu. A miracle finds mention narrating the mysterious behavior of the shade of a Jumbu tree which remained shadowing Gautam Buddha from Sun's heat when all the other shadows of other trees had moved away because of the shifting of the direction of the sun. It

is said that while the father King Suddodhana was himself ploughing ceremoniously to inaugurate the ploughing season of the country (for prosperity of the citizen) the son Gautam was deeply ingrossed in meditation.

References :

1. Alabaster, H. – The Wheel of the Law, London, 1871, pp. 27
2. Bose, P.N. – The Indian Colony of Siam, Lahore, 1927, pp. 112
3. Dawee, Daweewarn – Brahmanism of South East Asia, New Delhi, 1981, pp. 14
4. Dodd, D.W.C. – The Tai Race, Cedar Napids, Iowa Press, 1923, pp. 42
5. Lady Nabamasa – The Story of Lady Nabamasa (12th edn.), Bangkok, 1964, pp. 77
6. Notton, C. – The Chronicle of the Emerald Buddha, Bangkok, 1933, pp. 44
7. Phya Anuman Rajadhan – Introducing Cultural Thailand, No. 1, Bangkok, B.W. 2516, 99. 28
- The Culture of Thailand, No. 8, Bangkok, 1953, pp. 12
8. Rhya Davids, T.W. – The Nidana Katha or Coommentarial Introduction to the Buddhist Birth Stories, pp. 14
9. Sharan, M.K. – The Glory of Thailand (in Press), pp. 215
10. Singaravelu, S. – "Some Aspects of South Indian Cultural contacts with Thailand: Historical Background" in Proceedings of the First International Conference of Tamil Studies", Vol. I, Kuala Lampur, 1966, pp. 17
11. Thakur, U. – "Brahmana Missionaries in Siam", Altekar-Datta Memorial Lecture, K.P. Jayaswal Research Institute, Patna, 1986, pp. 15
12. Vella, W.F. – Siam under Rama III, New York, 1968, pp. 14
13. Wales, H.G.Q. – Siamese State Ceremonies, London, 1931, pp. 210
14. Wells, K.E. – Thai Buddism: Its Rites and Activities, Bangkok, 1975, pp. 175

The Growth of Corporate Forms in Ancient India

Babita Kumari*

To better understanding the development of corporate form in ancient India is important to examine the political and economic history of India and what path of it led to the development of the corporate form. Through this examination I intend to focus on a number of matters. First, how did the demand for the corporate form and the supply of its terms interact to help in formation of the *sreni*, in particular how did trade grow in ancient India and what were the monitoring methodologies used to address the concerns with multi-agent entities (i.e., agency costs) and to police the movement of assets between owners and the entity (i.e., facilitating asset partitioning and reducing creditor information costs). Second, what factors led to the development of specific attributes of the *Sreni*. For example, when did the presence of executive officers become common; when did the use of incentive payments come into being and what led to these developments? Third, what can the development of the *sreni* in ancient India tell us about the factors that may have led to it? For example, how important is a centralized empire to the growth of trade and the corporate form compared to alternate state structures seen in Ancient India? Moreover, what are prospects for convergence of governance norms in these different kinds of state structures?

Before beginning this inquiry a few words are in order. Most of the sources on Ancient Indian history can be divided into two time frames: before the 7th Century B.C and that after 7th Century B.C. the writings after the 7th Century B.C. are fairly reliable and provide good descriptions of the political, economic and social contexts of the time as well as descriptions of organizational forms.[1] However, writings before the 7th Century B.C. provide some potential challenges to the researcher. First, it is well known that ancient India especially prior to the 7th Century B.C., generally relied on an oral tradition for disseminating knowledge and information.[2] Thus, certain

*UGC.NET: Qualified Research Scholar, L.N.M.U. Darbhanga (Bihar)

sources were likely to have been composed at one point in time and that placed into writing considerably later. This makes dating the practices described in the earliest sources more difficult. Moreover; there are quite significant differences in the dating of the earliest India writings,[3] because of divergent theories about the initial development of civilization in India.[4] Second, the writing on the seals found at various excavated sites has not yet been deciphered and thus cannot provide much assistance to us in determining to us in determining the date of the earliest Indian sources like the *Rig Veda*.[5]

In light this for sources from the 7th century B.C. onwards I shall treat the time line as being fairly close to accurate. For sources that probably pre-date the 7th Century B.C. I shall focus on dates and time frames for which there is general agreement and mention other more controversial dates where they may arise. To the extent that the excavations at various sites can provide additional insights they will also be mentioned. With this in mind let us begin our journey through the History of Ancient India.

Civilization on the Indian subcontinent dates back many millennia. To make the analysis more manageable I divide Ancient Indian history into the periods in the following table. This allows us to focus on certain time periods that tended to stare many things in common one could, of course, present that time line in different ways, but this table is simply a method of providing a starting point for discussion. It does not preclude alternative divisions of ancient Indian history.

TABLE-1

Period	**Years covered Approximately**
A. Earliestcicilizations	7500 B.C. to 700 B.C.
1. Earliest sites- Mehargarh	7500 B.C. to 4000 B.C.
2. The Indus Area civilizations	4000 B.C. to 1900 B.C
3. Indo-Gangetic Civilizations	1900 B.C. to 700 B.C.
B. The rise of Buddhism & Jainism	700 B.C. to 320 B.C.
C. The Mauryan Dynasty	320 B.C. to 185 B.C.
D. Post –Mauryan kingdoms in north and south India	200 B.C. to 1300 B.C.

E. Thc Gupta Dynasty S India's "Golden Age"	250 A.D. to 550 A.D.
F. Harsha Vardhana $ The Rajput kingdoms	600 A. D. to 1100 A.D.[6]

A. Earliest Civilizations in the Indian subcontinent and origin of *sreni*:

The origin of the *sreni* is the mists of Ancient Indian history. The earliest Indian writing does make references to organizational forms. The *Rig Veda* makes reference to the pani (akin to a partnership amongst trades for trade caravans) and the Mahabharata to the *sreni*[7]. There is, however, little detail provided about how the *sreni* was organized except to mention the position of the headman (*Sresthi*).[8] In addition, the exact dating of these early as 3100B.C.[9] However, regardless of which date is preferred, thc *sreni* is of corporations by centuries.[10]

Although this time period does not provide much further written material on the *sreni* it does provide significant excavation evidence on Ancient India. I will briefly discuss this evidence because it provides thc context and building blocks for later economic development. Moreover, much of the later economic development in the Indian subcontinent bears many similarities to the evidence discussed in the next few paragraphs.

1. Earliest Sites –Mehargarh:

Current archaeological thinking suggests that thc earliest settlement in thc Indian subcontinent date back to roughly 8000B.C.to 7000B.C.[11] Excavations at Mehrgarh (near Quetta, Pakistan) and neighboring sites[12] provide evidence of a fertile region and inhabitants engaged in farming, herding and keeping animals,[13] as well as inhabitants who possessed dentistry skills.[14] There is little evidence of advanced trade in Mehargarh, but in sites from around 50000 B.C. There is some evidence of longer distance trade and the use of the kiln in making pottery[15] there is, however, little further evidence of how trade functioned in those times.[16]

2. The Indus Area Civilizations:

The next important civilizations in Ancient India were a little further east and spread out across the Indus River valley (e.g. Harappa and Mohenjo-Daro) and neighboring rivers (figures 1 and 2).[17] These civilizations date from roughly 4000 B.C. and flourished for centuries going into decline around 1900 B.C.to 1500 B.C.[18]

Excavations suggest a resource rich, fertile and heavily populated area that was considerably larger than its contemporaries (e.g. Egypt and Mesopotamia).[19] The Indus area civilizations were highly developed with advanced city planning and water management systems far ahead of contemporary civilizations.[20] More over, residents of the Indus area were actively engaged in trade,[21] with each other and with civilizations to the west (both by land and by sea).[22]

Figure 1-Map of Early world civilizations[22]

Figure2- Detailed Map of Indus valley sites[23]

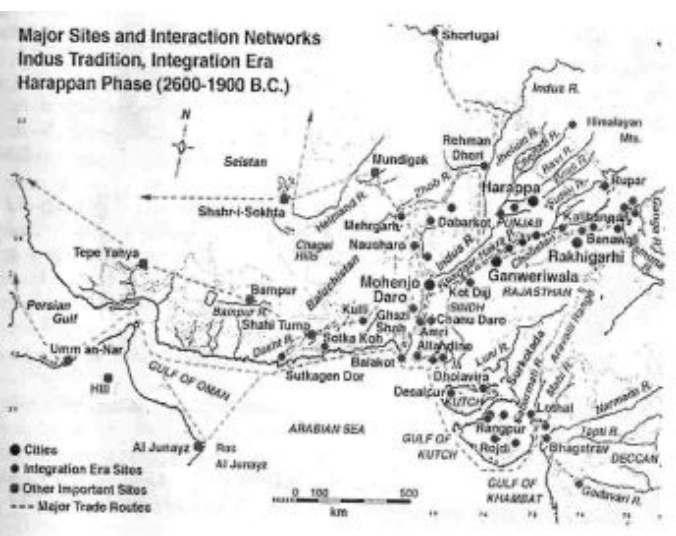

Most of the research into these sites suggests a number of factors contributed to the active trade environment.[23] In addition to the resource rich environment, urbanization probably furthered trade by bringing people to a central place where they could live and work together to satisfy the demands of city residents for regular and luxury goods[24] second, although these civilizations were not under the role of a single monarch[25] they appeared to live in relative peace with each other[26] relied on common weights and measurements,[27] and had similar city plans with separate areas of the city dedicated to certain professions[28] this degree of uniformity is surprising given the absence of a single monarch and some have suggested that it resulted from a focus on trade and religion.[29]

Indeed, all the factors listed above would benefit trade. The relative peace in the region makes travel safer for traders and opens up new markets for trade.[30] The uniformity of weights and measures, unique at that time in world history,[31] benefits trade by reducing the transactions costs of engaging in trade.[32] The localization of craft and industry to certain parts of the city might enhance group cohesion, increase productivity and make training of new recruits / employees somewhat easier. In light of all these factors, trade was active, substantial and growing which suggests the demand for collective efforts –to protect traders traveling long distances, to engage in large scale production and so forth – was large and probably rising. This often enhances the demand for organizational forms.

On the supply side one can examine what kinds of monitoring methodologies might be in place. First, localizing craft and industry not only enhances productivity, but also makes it easier to monitor what people is doing- they are your neighbors. The geographical proximity of people in the same occupations would have provided the monitoring methodology necessary to make the duties described in parts II and III. B.3 enforceable and to reduce agency costs.[33] Moreover, enhancing group cohesion would help to encourage the growth of *sreni* dharma within the *sreni* (assuming they existed at that time).

Moreover, excavations have found many seals which although undeciphered,[34] are considered by some scholars as ways to identify property.[35] If so, these seals could potentially be one way for people to mark their property and thereby enhance the chances of monitoring the movement of assets between owners and entities and reduce creditor information costs. However, not enough is known about the seals and the other business practices at that time to say anything conclusive.

In any case it does appear that some of the basic pre-conditions for the

development of organizational forms were present-increasing trade and some methods of monitoring agents and perhaps even the movement of assets. This does not mean, of course, that the *sreni* or other organizational forms necessarily existed in these cavitations, but it does suggest that the pre-conditions for their growth were probably present.

3. Indo –Gangetic Civilizations:

Following the decline of the Indus area sites (near 1900B.C.to 15000B.C.),[36] there was a nearly contemporaneous rise in the eastern civilizations centered primarily on the banks of the Ganges river which bore many similarities to the Indus area sites.[37] These Indo-Gangetic kingdoms grew very quickly and became quite wealthy as the region is well watered, lush and green, and bountiful in natural resources.[38] It is quite clear that the *sreni* would have existed during this time for two reasons. First, if one uses the most recent dating for the earliest written materials (1500B.C. to 1000 B.C.). Then by 1000B.C. to 800B.C. the *sreni* and the pani were known to the Indians.[39] Moreover, the monitoring methodologies and general growth in trade in the indo-Gangetic kingdoms further contribute to the notion that the prerequisites for the corporate form were in place by about 1000B.C. it was also during this time that Hinduism was the dominant religion and the caste system was clearly in place, although it may not have been as rigid as it later become.[40]

B. The Rise of Buddhism & Jainism:

The dawn of the 7th Century B.C. was an important period in Ancient Indian history around this time two great religions – Buddhism and Jainism- were founded.[41] Both religions found a number of adherents in India with Buddhism becoming very popular and changing the landscape in many ways for nearly 1000 years.[42]

Apart from the religious and political significance of Buddhism and Jainism, trade was significantly impacted during this time. Both religions did not stress caste divisions and thus permitted easier interchange amongst groups in society and this further helped to expand trade, innovation, and production.[43] In addition, there was significant urbanization (as in the Indus area) and the use of coins as currency was quite common thereby making transactions easier.[44] Moreover, the greater use of iron in this time would have helped in constructing tools to enhance the development of agriculture (e.g., iron ploughs, axes), crafts, and improve transportation and storage.[45] All these factors would have contributed to the rise in trade and the demand for collective efforts and organizational forms.

In addition, the professions continued, as in the Indus area, to be localized in parts of towns and cities, thereby enabling monitoring of group members.[46] Further, it is fairly clear that by this stage accountants were a recognized profession which would have helped in policing the boundary between entity and owner assets.[47] All the basics were then in place for the corporate entity.

Indeed, we have considerable written sources attesting to the presence and importance of the *sreni* by this time in Indian history.[48] These sources suggest that the *sreni* were numerous, in varied fields, and indeed could be mobile from one place to another.[49] The *sreni* were clearly important in society as they were often invited for official state functions.[50] They were also actively involved in trading, production (crafts), and rudimentary banking services by this time.[51] Their importance is further highlighted by the fact that the Bhandagarika (an arbitrator for inter-*sreni* disputed) became established at this time as a government official.[52]

However, besides references to the importance to the *sreni* in society we have only a few tidbits of information on how it was organized and governed. We know that by this stage *sreni* had headmen and that the *sreni* were sometimes composed of a large number of members.[53] Although headmen are mentioned, there is little mention of executive officers which is surprising given that some *sreni* were quite large. We do, however, see references to the *sreni* laying down their *sreni* dharma and the law books containing recommendations to the king that he should enforce this rules.[54] This suggests that the governance of the *sreni* is something that people had spent time thinking about by this stage. This is to be expected given the increasing importance and size of the *sreni*. We do not have, however, references to what was contained in the *sreni* dharma of the time. This makes assessing the functioning of these entities more difficult. Nonetheless, we can say with confidence that the *sreni* had grown in number and importance by this stage, played a critical role in society, and that the writers of the time were cognizant of the notion of governance in these entities.

C. The Mauryan Dynasty:

Although the economic environment in India was growing rapidly, may things were about to change. The incursions of Alexander the great into northwestern India started the prices of significant change in India.[55] Many in India were concerned about the potential for Alexander to invade other parts of India. Even after his death a large portion of his army stayed in the area and the threat of a Greek invasion loomed over India.[56] Against this background came the birth of what many regard as

the first great Indian empire –The Mauryan empire- which held sway from about 320 B.C. until 185 B.C. (see figure 3).[57]

The primary emperors were Chandragupta Maurya (after whom the dynasty is named), Bindusara, and Ashoka.[58] All of the emperors expanded the empire until it reached its zenith under Ashoka and covered virtually all of India, modern day Pakistan, Bangladesh and Afghanistan. Although the empire existed for only about 135 years, its development brought changes to India that would reverberate for many years to come.

Figure 3 - Map of Mauryan India

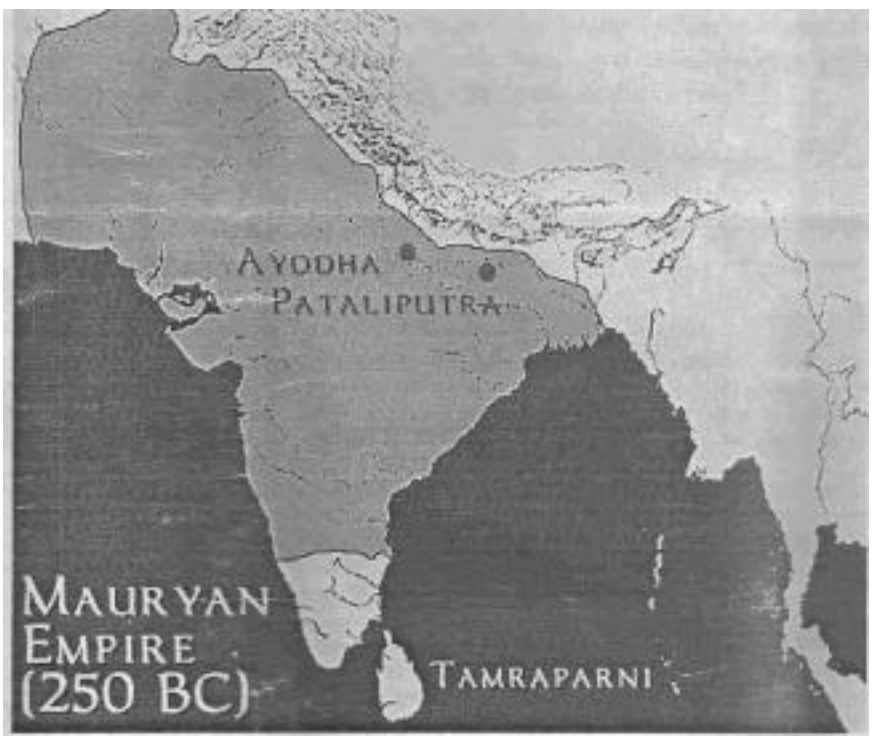

The first major change was that it yes one of the only times in Indian history when virtually all of India was unified under one ruler. With an empire in place the trade routes throughout India became more secure thereby reducing the risk associated with the transportation of goods. Second, the empire spends considerable resources building roads and maintaining them throughout India.[59] The improved infrastructure combined with increased security, grater uniformity in measurements. And increasing usage of coins as currency would enhance trade.[60]

The second major change was the publication and implementation of the Arthasastra around 300B.C.to 275 B.C. The Arthasastra (the knowledge or science of material gain) is one of the most important ancient texts on economics, politics and administration.[61] The authorship of the Arthasastra is usually attributed to the legendarychanakya.[62] Chanakya was the chief adviser and minister who helped Chandragupta Maurya obtain the Magadha kingdom (A very powerful kingdom in ancient India) and then, through his stratagems, unified the northern Indian kingdoms into a force to repel the Greeks.[63]

The Arthasastra is a treatise on how to maintain and expand power, obtain material gain, and administer an empire.[64] Not only is it a book about theory, but also implementation .it contains many clear and detailed rules regarding the governing of an empire to ensure its success and longevity. To be sure, it is at times ruthless and brutal, but was the basis for the administration of the Mauryan empire and indeed many later (and smaller) empires in India.[65] Its influence can hardly be overstated.

In the Arthasastra central authority plays a critical role in many aspects of life and most importantly in economics and politics .although there was an active private sector, it is clear that the state occupied a large role in commercial (and other) activity.[66] The degree of regulation was quite high and few areas of life were more regulated than *sreni* activity. Chanakya appeared quite high and few areas of like were more regulated than *sreni* activity. Chanakya appeared quite suspicious of the *sreni*.[67] He was generally concerned with any entity that had many members, good resources and a strong sense of group loyalty as the *sreni*did.[68] He probably viewed them as potential threats to the cohesion of the empire and hence entities that needed to be watched carefully.[69] However, he was cognizant of the importance of economic prosperity to maintaining the support of the citizenry- a matter of paramount importance to the emperor.[70] The *sreni* were the engines of economic growth and could not be dealt with in the same manner as a hostile regional monarch. Thus, regulating the *sreni* was a matter of balance for Chanakya– their support was needed, but they could not be permitted to destabilize the empire. Indeed, one suspects this concern is one of the reasons way the roman empire –which had extensive trade with India- did not appear to adopt corporate forms for purely private commerce.[71] The Romans may well have been concerned about just this sort of alternative entity which may attract the public's loyalty away from the empire.

In light of this, the regulation of the *sreni* was quite detailed.[72] There were administrative officials whose task it was to superintend the various industries and

professions represented by the *sreni*.[73] This was done through regular administrative processes, but also through the use of spies and assassins.[74] The level of regulation could be quite minute and encompassed regulating the price of products or services, quality control, weights and measurements and even the pay *sreni* headmen (*sreni*-mukhyas).[75] Taxes were collected and the use of fairly detailed accounting rules required.[76] Moreover, there were simple and clear rules about debt obligations and when a debt would cease to be enforceable.[77] In spite of this family heavy regulation, the *Arthasastra* expected the monarch to generally apply *sreni* dharma to internal *sreni* matters , encouraged *sreni* to be active participants in the credit markets providing loans (sometimes to the monarch) and receiving deposits, as well as providing concessions to *sreni* in suits involving other *sreni*.[78] Moreover even with such detailed regulation, it is clear that there were markets for commodities as the *Arthasastra* prohibits traders from operating in a group to effectively corner a market.[79] Thus, the *Arthasastra* treads a delicate balance to maintain an active economy via the *sreni* and the state, but not to permit the *sreni* to present a significant challenge to the empire.

There is considerable evidence that domestic and foreign tread grew significantly during the Mauryan empire administered according to the arthasastra.[80] There were many *sreni* during this time and the *Arthasastra* expected the king to respect *sreni* dharma (and indeed to record it for use in latter daisputes).[81] This suggests that *sreni* had become significant enough that kings paid heed to *sreni* dharma formulated by the *sreni*, which in turn implies that rules of governance need not be exclusively mandated from the state, but could also be devised voluntarily by the entity. This is surprising given the more centralized nature of the Mauryan expire. In addition to the, there is discussion of *sreni* members being able to remove the headman.[82] This provided the *sreni* members with redress against an agent (the head) who was violating the terms of their arrangement. Also, not only were internal matters respected, but also *sreni* were involved in litigation and the institution of the bhandagarika (arbitrator of inter-*sreni* disputes) continued to be of importance.[83] In light of this, one con state that the *sreni* were a large and growing sector of Indian life during the Mauryan empire and that many of the basic traits of the *sreni* are seen by this time. Moreover, the background environment of growing trade (increasing the demand for *sreni*), localization of occupations (enhancing the monitoring of agents and owner) and the usage of detailed accounting rules and debt satisfaction proceedings (monitoring the movement of assets between owners and *sreni*) would have been quite a good environment in which *sreni*–like structures could grow and

develop.

The Mauryan Empire and the *Arthasastra*, however, are not the only developments of importance during this time. Buddhism received significant support during the Mauryan Empire when Ashoka adopted the Buddhist faith.[84] As mentioned earlier, the rise of Buddhism probably encouraged trade because it had fewer restrictions on people from different groups and castes interacting with each other.[85] What made it interesting in this context was that Ashoka continued to administer the empire largely according to the dictates of the *Arthasastra*.[86]

At first glance, one might find the mix of Buddhism (which generally preached non-violence, renouncement of material ends, and attainment of nirvana) and the *Arthasastra* (which generally preached the acquisition and consolidation of power and material ends with a dollop of assassination and subterfuge) rather odd mix. However, it is by no means clear what Buddhism and the *Arthasastra* are diametrically opposed on every matter.

First, the *Arthasastra* is not a text on religion and as such it is not attempting to be an alternate religion to Buddhism.[87] Second, the Buddhist monks had a somewhat more centralized method of organizing their religion than Hinduism and hence the centralization associated with the *Arthasastra* may not have been entirely at odds with Buddhism.[88] Further, the evidence we have suggests that Ashoka found an interesting fusion of the principle elaborated in Buddhism and the *Arthasatra*. After adopting Buddhism, Ashoka supposedly renounced war and the conquest of smaller states providing them with some degree of greater sovereignty in their own affairs.[89]

Although consistent with Buddhism, this need be inconsistent with the *Arthasastra*. Ashoka implemented these policies after most of India had been conquered and at this time maintaining rigid control might breed uprising rather than support.[90] Moreover, maintaining control and continuing to fight ware over such a large territory was bound to have drained the empire's resources – something the *Arthasatra* would probably consider an anathema.[91] After all, once you have acquired large tracts of territory it might prove advantageous to avoid expending resources on conflict in those territories and rather obtain additional resources from them (via tax collections and tributes).[92] Tax collections would increase as the economy grew and the measures adopted appeared to do just that. Viewed in this manner, Ashoka's behaviour does not appear to be that opposed to the *Arthasastra* which was written largely during a time when the empire was smaller and faced many immediate threats to its existence. I do not mean to suggest that Ashoka's

adoption of Buddhism was not motivated, at least in part, by a religious epiphany, but it is worth noting that the *Arthasastra* and Buddhism are not as oppose as they may appear on first glance. However, even with this, there continued to be considerable centralization, excellent intelligence systems, and the superintendents of industries continued to exist.[93] Ashoka also utilized the fairly efficient toll and taxes system proscribed by the *Arthasastra* and encouraged trade in a variety of ways.[94] This system of administration led to one of the greatest growth periods in Indian history and the increasing use and development of the *sreni*. This, however, was not long lived. After Ashoka the Mauryan Empire fell into decline, for a number of reasons, and within 50 years of his passing the empire had fractured into many smaller kingdoms.[95]

D. Post Mauryan kingdoms in North and South India:

For expositional ease I divide the developments following the Mauryan Empire into those in north India and those in should India. After the Mauryans, north and should of India were not under the same monarch for nearly 1600 years.[96]

In the north the first dynasty to replace the Mauryan was the Sunga, which ruled over a smaller empire cantered around Pataliputra for about a century.[97] They were replaced by some short liven kingdoms until 30 B.C.[98] In the far Northwest the Mauryans were replace by the Indo-Greeks (for about 150 years), the Shakas (Scythians), and then the Kushanas (from central Asia) who created a large kingdom that reigned until roughly 100 A.D.[99] Trade flourished in both the Indo–Greek era, China and Rome.[100] Following the demise of the Kushana Empire north India broke down into a series of small and wring kingdoms until the century A.C. when India's next great empire took shape.[101]

In the sought there were several kingdoms of important. The Pandya kingdom (starting around 200 B.C.) was the longest running lasting until about 1378A.C.[102] Trade was very active, especially with Rome, as is evidenced by the large member of roman coins found in this area.[103] Directly north of Pandyas was the Andhra kingdom (called the Satavahana dynasty) founded in 40 B.C. And lasting until the third century A.D. which appeared to follow the strong central state model of the Mauryan.[104] following the Satavahana the chalukya dynasty took hold and ruled from 453 A.D. to 750 A.D. and then again from 970 AD. to 1190 A.D.[105] There is considerable evidence of very active tread during broth the Satavahana and Chalukya dynasties.[106] Going to the far south brings us to the Pallava kingdom in Tamil Nadu which ruled from the 4th century A.C. to the 9th century A.D. and was then replaced

by the Chola kingdom.[107] The Cholas ruled until the 13th century A.D. when the Islamic invasions also claimed their kingdom.[108] This reads like a story about a region in a constant state of flux with many different kingdom all vying for power and prestige – virtually the exact opposite of the vast and stronger centralized Mauryan Empire. Yet, perhaps remarkably, trade very wealthy with active and highly profitable trade with Rome, Egypt, south East Asia, and China.[109] How was this achieved?

The first thing to note is that India (north of south) was not in a state of constant war, rather there were kingdoms that lasted at least 100 years, sometime longer, before being displace. Second, the roads built and trade routes used during the Mauryan times continued to be used. Further, during the reign of the indo – Greeks, and later the kushanas, the land routes were fairly secure in the north.[110] Thus, safety along the trade routes was not as week as one might imagine. Moreover, the sea routes from the west, east, and south of India were quite safe and efficient, especially after the discovery of the monsoom patterns.[111] When this is combined with the expanding sea trade with the roman empire there would have been lest need to rely so much on the land routes for trade.[112] Indeed, it may have been that the growth in foreign sea trade more than compensated for the instability, at time, in domestic land trade.[113] Finally, it is possible that the wars did not lead to the upheaval of villages and destruction of the productive aspects of the economy because the rules of the time rarely used to disturb these areas except to collect taxes.[114]

Another matter of considerable importance is that with the fall of the Mauryans there was also the fall of their centralized state consequently, the *sreni* were not held in as tight reign as under the Mauryans and could adapt more quickly to their environment.[115] In this post – Mauryan era the newly unshackled *sreni* grew quickly and established their sway over much of India.[116] Moreover, kings were quite keen to have the favor of the *sreni*, no doubt to help stabilize or cement their control over a region.[117] This was an environment particularly well suited to the growth of the *sreni* and indeed there were many more *sreni* during this time than during the Mauryan empire and they began to take a more active role in other aspects of Indian life (e.g., judicial, religious, banking and administrative), which would have been difficult to imagine in Mauryan times.[118]

The increasing importance of the *sreni* would have led to greater discussion about its internal governance and of the rules governing its interactions with others[119] we witness this in a number of ways. First, we have even more clear references to the kings being impacted to maintain *sreni* dharma.[120] This reflected a gentle shift from

a recommendation to uphold *sreni* dharma (during Buddhist times) to an expectation to do so, which underscores the increasing importance of the *sreni*.

Second, we see the first discussions about the presence and qualifications of executive officers, the penalties for embezzlement, and fines on *sreni* members for keeping *sreni* property.[121] These suggest that the *sreni* had become so large by this stage that one could not simply rely on the *sreni* head to run the entity without the assistance of some executive team. Moreover, it would be difficult for there in, or its members, to self-monitor such a large and asset-rich entity with so many members. This is due to a number of reasons. First, the likelihood of the *sreni* being able to apprehend and sanction a wayward member may decrease as the number of members increases. If the likelihood of apprehension drops then some supplementary measure (e.g. large sanctions or an outside monitor) would be needed to maintain deterrence, and legal sanctions and enforcement can serve these roles.[122] Second, as *sreni* become wealthier the gain to the member from engaging in misbehavior would increase- more assets in the *sreni* imply more to be gained by the deviant member from obtaining those assets. This may also call for resort to larger sanctions and tighter enforcement- something that outside legal enforcement could provide.

Overall, this period witnessed significant developments in the *sreni* along with extensive economic growth, but without the presence of a strong centralized empire that appeared to assist economic growth in the Mauryan period. The presence of significant economic growth in two quite opposite political structures might seem surprising, but it only scratches the surface when examining the many different political structures in which economic growth prospered in Ancient India.

The dispersed kingdoms of Northern India were to remain that way until the dawn of India's next great empire in the third century A.D. –the Gupta Empire. Although somewhat smaller in size than the Mauryan Empire (see figure 4), the Gupta Empire lasted considerably longer.[123]

Figure 4 - Map of Gupta India

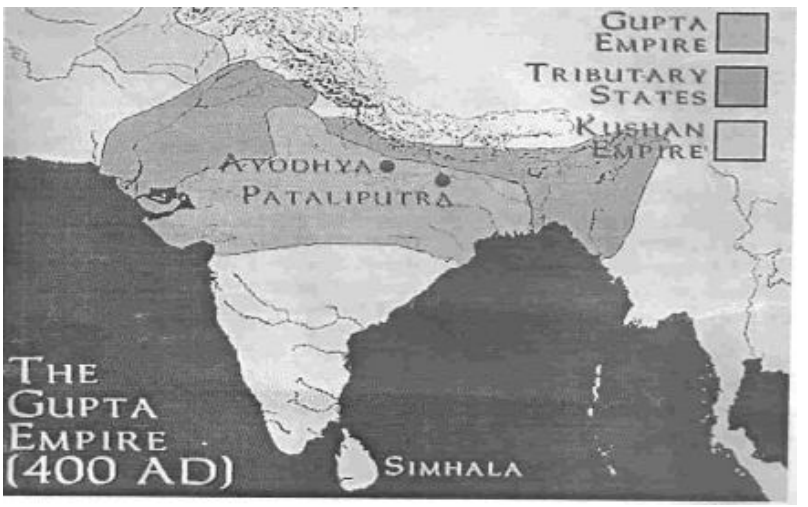

The Gupta Empire dates from roughly 240 A.D until 550 A.D. and is usually referred to as India's "Golden Age".[124] The primary emperors of this dynasty were Chandragupta I,[125] Samudragupta,[126] and Chandragupta II (who took the name Vikramaditya).[127] All of these emperors expended the boundaries of the empire until it reached its apex in the reign of Vikramaditya.[128] much like the Mauryan Empire, the Gupta Empire also had a number of long range implications for India and for the *sreni* the first was that, although Chandragupta I brought some of the principles of the *Arthasastra* back into effect, the Gupta Empire was not nearly as centralized as the Mauryan.[129] Rather the Gupta Empire was a looser confederation of kingdoms which relied more on tributes, strategic alliances, and greater decentralization that the Mauryan empire.[130] Indeed, it is likely that the increased heterogeneity of Indian society reflected in the general economic and political conditions of the time would probably not have sustained a highly centralized empire.[131] The significance of this for trade was that the central authority did not regulate economic activity as tightly as the mauryans,[132] yet it provided quite efficient administration, maintained safe trade routes, and encouraged trade.[133] There are even instances where the Gupta emperors provided favorable treatment to the *sreni* which relocated their operations to another town or region where the Guptas were trying to generate growth.[134]

A number of other matters also contributed to the growth of the economy in the Gupta Empire. First, the Guptas were quite in building contacts with other countries and in some respects exporting Indian culture.[135] These contacts supported

the increasing and active trade with the far east and south east Asia, which supported the Indian economy at the time when the roman empire was weakening.[136] Moreover, the greater security on trade routes in India provided by the Gupta empire would have enhanced domestic trade.

Second, a number of scientific and technological developments made India products even more attractive. during the Gupta empire India experienced a resurgence of science mathematics, art, literature and Indian culture.[137] On the mathematic side the increasing use of Indian numeral system and the development of zero as a placeholder would have enhanced trade by simplifying calculation and the overall transactional process.[138] On the science side the use and development of iron in India at this time reached the highest levels.[139] Indeed, one of India's most famous historic attraction-the iron pillar of Mehrauli –is said to date form this period.[140] This pillar made of virtually 100% iron and roughly 24 feet tall, has remained rust free for around 1600 years in the Indian climatic environment.[141] The significance of this level of sophistication in iron would also have been displayed in more efficient tools for trade transportation and storage.[142]

Enhanced foreign and domestic trade combined with improvements in technology is an enviable recipe for economic growth. That, indeed, is what we witness and concomitantly an increase in the number and importance of the *sreni*.[143] Some estimate that there were at least 150 *sreni* by this time.[144] Moreover, the written sources of this era provide the most detailed accounts of the *sreni* and their internal operations discussing the rules regarding admission into the *sreni*, sharing of assets, the position of executive officers, the use of incentive devices, the abolish the headman and executive officers, the fiduciary- like duties, the importance and enforceability of *sreni* dharma, the mobility of the *sreni*, the multi-profession *sreni*, into various other aspects of life.[145]

These features are all consistent with the *sreni* being a critical factor in exploiting the opportunities for economic growth in the Gupta Empire. For example, as *sreni* membership grew and its wealth increased one might expect a greater need for more external legal monitoring to supplement internal monitoring.[146] Moreover, one might not be surprised if *sreni* were willing to take on additional occupations in an environment of quickly growing and profitable opportunities.[147] Similarly, *sreni* might be willing to move to new locations to take up attractive new opportunities.[148] Finally, by this stage it is clear that the king is almost bound to enforce *sreni* dharma, which reinforces the importance of the *sreni*. In many respects, the Gupta Empire

was high point in the growth of trade and the *sreni* organizational form.

However, the Gupta confederacy began to weaken over time and invasions from the Huns in the north accelerated its decline.[149] By 550 A.D. the empire had been weakened and fell.[150] The empire's remnants ruled increasingly smaller kingdoms and India began to descend into warring factions.

F. Post-Gupta Harshavardhana:

Soon after the demise of the Gupta empire one of the kingdoms that took over part of their empire- the Pushyabhutis– began to expand under Harshavardhana.[151] His reign began in 606 A.D. and he started to amass control and dominion over parts of India quickly establishing an empire (based again on a lose confederacy) that nearly rivaled the guptas.[152] Harsh was an impressive military leader, an able statesman and diplomat, and a brilliant administrator.[153] Moreover, during his reign (606 A.D. to 647 A.D.) trade expanded much like it did in the Gupta empire with an increasing focus on the far east and south east asia.[154] To service this large trade the *sreni* continued to function as they did under the Gupta empire.[155] Unfortunately, upon Harsha's passing his kingdom fell apart and India descended too warring feudal lords and small kigdoms.[156]

Over the next 400 or so years a number of kingdoms ruled parts of India with increasingly shifting boundaries, internecine warfare and a general decline in trade.[157] The decline in trade was due in large measure to the frequent wars within India and general on – going political instability, which made long distance land trade more risky.[158] Also, in these conditions many *sreni* members were forced to move around thereby impeding the cohesion needed for effective functioning of the *sreni* as well as making it harder to plan out projects.[159] This was further exacerbated by diminishing foreign trade with the dwindling roman empire.[160] In light of all this the *sreni* began to shrink in size and importance. Further, their weakened position led to fewer people being willing to entrust them with their deposits which served only to worsen the financial position of the *sreni*.[161] As the *sreni* become undone their heads often began to position themselves to be feudal lords, as did some rich merchants, which further distracted them seni affairs.[162] Indeed, to make which deprived the *sreni* of broad base of talent and potentially reduced innovation in it.[163] For all intents and purposes the *sreni* were no longer a significant force.

Around 1000 A.D. most of Northern India was embroiled in Islamic invasions that led to the establishment of Delhi sultanate in the early 1100s and the south was

invaded around 1300 A.D.[164] During this period and onwards there was much on-going struggle to obtain control of India by many different groups and coalitions.[165] This, no doubt, would have continued to weaken the force of the remaining *sreni*. Moreover, it would have been difficult to revive the *sreni* it the Islamic rulers relied on Middle Eastern Islamic law which did not appear to the Middle East's unique background leading to an inheritance law and contract law that large impeded the development of the corporate from.[166] Nonetheless, even before the Islamic invasions the *sreni* had been considerably weakened in India and the *sreni* did not appear to be as important players as they used to be in the Indian economic, social and political environment. The ancient era had indeed ended, but the growth of trade and organizational forms in India had been exceptional.

G. Summary

The political economic and social conditions throughout the history of ancient Indian reveal a number of things of importance to understanding the development of the *sreni* and organizational forms in India. Moreover, this discussion provided insights into other matters related to the growth of corporations and how their governance develops.

First, the analysis shows that the *sreni* developed and grew along lines that are suggested by the discussion in part II. Thus, the corporate form would grow when the demand for it increased, induced by increasing trade and technology developments, and when the supply of the conditions necessary for the corporate form's development were present. These conditions include the monitoring methodologies necessary for reducing agency cost and coeditor information costs. In Ancient India the *sreni* appears to have developed when these conditions were present (good monitoring of *sreni* members plus good accounting rules) along with rapidly growing trade. This provides further support for the thesis advanced recently by Hansmann, kraakman and squire on the importance of asset partitioning to the development of the corporate form.[167] The analysis also indicates that the *sreni* developed considerably before the earliest roman proto- corporations.

Second, the number, size and complexity of the *sreni* increased with the growth of trade in India. As the *sreni* become more numerous and occupied more important roles in society it is not surprising that more attention would be paid to it and that its internal governance would become a matter for further discussion.[168] The analysis suggests that the more detailed ruled of governance, the greater legal respect accorded to *sreni* dharma, and the great legal enforcement of its terms (from recommendations)

grew as the importance of the *sreni* increased. Moreover, certain features seem clearly targeted to addressing concerns with *sreni* in a growing trade environment. Examples include the mobility of *sreni* and the presence of multi- profession *sreni*.

Third, when examining the factors leading to the growth of trade in Ancient Indian one notices that it grew under a variety of different government and political structures. There have been apparently peaceful loose city state structures (Indus Area civilizations), a more centralized empire structure (the Mauryans), a less peaceful structure of multiple kingdoms (the post- Mauryan age), and a looser empire structure with many tributaries and alliances (the Guptas).

A natural question to ask is whether these structures are equally good at encouraging trade and growth of the *sreni*. This, of course, phrases the question too broadly and one must address the question with some caveats. First, state structure is not the only determinant of trade growth and other factors such as the resources available in the area, technology, and growth of foreign trade are also relevant.[169] Second, phrases such as "loose empire" and "centralized empire" are broad labels that encompass many different kinds of Structures. Greater attention to the institutional and political characteristics of each particular regime would be necessary in assessing the impact on trade. In spite of all these caveats, it appears that economic growth was fastest during the "loose empire" structure of the Guptas. The Gupta Empire occupied an intermediate point on the continuum between strongly centralized and strongly decentralized state structures. Moreover, the Guptas provided a great deal of flexibility to the *sreni* in determining how to govern themselves and organize their business.[170] One could conjecture that this intermediate point with considerable flexibility may the lowest total cost structure for the highly heterogeneous environment in which the Guptas reigned.[171] Such a structure would have provided safety along trade routes and reduced transactions costs (e.g. using the same currency and weights systems) as well as providing business entities with flexibility to adapt to changing business and local environments. Whether this was the most desirable state structure or not is difficult to know, but it certainly led to phenomenal growth.

This, however, does not end the discussion. Although the Gupta reign was one of great economic growth, it is clear that the other state structures in ancient India had considerable economic growth too. They may not have been as the Guptas, but they were quite successful .How did that happen?

The growth of trade in these other state structures could be attributed to a number of factor (e.g., growth of foreign trade, advancement of iron technology),

but I shall focus on two that are relevant for our discussion. First, under virtually every state structure in Ancient India it would appear that the *sreni* were given considerable discretion to manage their own internal affairs. Thus, the flexibility and adaptability prevalent during the Gupta Empire would have been present, in large degree, under all the other state structures too. This benefits trade by permitting entities to adapt efficiently to their environment.

Second, safety along trade routes and uniformity of trade and trade measures and currency can be achieved under varying state structures, but with differing costs and benefits. For currency and laws, uniformity and standardization should make transactions easier and thereby enhance trade.[172] This seems true, but uniformity rarely comes without cost. To establish and maintain an empire over heterogeneous groups will require effort (and hence unification costs), is subject to its own inefficiencies (e.g., a slow and /or corrupt bureaucracy), and uniformity is not always efficient for all groups in society.[173] Of course, uniformity can be achieved without the emperor's fiat, but then it requires the coordinated effort of many states and their leaders (or leadership groups) and is therefore likely to be more costly (i.e., have high coordination costs).[174] Thus uniformity could be obtained in different structures but with different costs and benefits. Indeed, one would expect that coordination costs are probably highest in the less peaceful kingdoms, then loose city states, then the Gupta Empire, and least in the Mauryan. On the other hand, corruption, bureaucracy, and unification costs would probably go in the reverse order.[175]

Thus, it may well be possible to achieve safe trade routes and more uniform practices under various regimes, but the costs and benefits will be quite different .this may go some way in explaining how trade grew in such different state structures in Ancient India and way trade may have been the greatest under the Guptas and still remarkably active under other state structures.

Another point related to state structure and the *sreni* is that the Mauryan Empire gave the least degree of autonomy to the *sreni* followed by the Gupta Empire and then by the post – Mauryan kingdoms. This is not all that surprising. Imagine if there were two moderately size kingdoms that were antagonistic toward each other and that in one kingdom there was a *sreni* that was very profitable and much liked with over 1000 members. One can easily imagine the kings being keen to win the favor of a successful and popular *sreni* rather than alienate it. Indeed, the cost of alienation would be lass of support and potential defection (or movement) into the neighboring antagonistic kingdom. Rulers in this environment would find that

coalitions with *sreni* would strengthen their hold on power. Compare this to where there is an Empire that is 10 times larger than either kingdom in the above example. In this situation a 1000 person *sreni* carries less political clout due, in part, to its (now) smaller proportionate representation of the population. Moreover, a large Empire may be bigger than any of its nearby rivals reducing the likelihood that a disaffected *sreni* would consider it worthwhile to defect to the smaller and potentially less profitable environment. Of course, the empire could "squeeze" *sreni* too far and then they might defect, but the point is that an Empire would need to do more to a *sreni* to result in defection than a smaller kingdom with a competing neighbor. This appear true for the Mauryan Empire as well as the roman. Moreover, as the empire becomes smaller and less centralized we would expect, all else equal, that coalitions become more attractive and hence more overture and autonomy are granted to the *sreni* (e.g., the Post-Mauryan kingdoms and the Gupta Empire).

This is what we witness.

Finally, there are two more aspects of the development of the *sreni* that make it noteworthy. First, the general similarity of *sreni* internal governance to many aspect of modern corporate governance is quite interesting. This suggests that some matters of similar levels. Moreover, not only are the concerns similar, but so are many of the methods of addressing them. This is especially the case with the *sreni* and modern Anglo-American corporations as both tend to have more dispersed ownership structures.[176] This may have implications for the corporate convergence debate that merit further inquiry.[177]

Second, the internal governance of the *sreni* appeared to develop along lines predicted by the growth of trade and the presence of factors contributing to the supply of monitoring methodologies necessary for *sreni* development. The fact that there is this predictable continuity in internal governance suggests that even in different government systems similar rules can develop. However, a very important caveat must be added to this. In Ancient India it would appear that each political structure tended not to interfere in the internal dynamics of the *sreni* (by generally enforcing *sreni* dharma) unless some particular emergent event had occurred (e.g., the *sreni* votes out the headman and he refuses to leave).[178] The continuity in internal governance may largely be an artifact of the relatively consistent treatment and development of *sreni* dharma over time.[179] Nonetheless; it has interesting, for the convergence debate.

On one hand, the consistency and predictability of *sreni* governance

development suggests that part dependence is quite strong as *sreni* governance stayed on this "path" for at least 1000 years. However given how little the various political structures interfered with internal governance of the *sreni* one should be cautions in drawing strong inferences about path dependence. Also, the fact when lift to their own devices the *sreni* seemed to develop rules similar to the modern Anglo-American corporation suggests that convergence some potential bite. However, the *sreni* started out with a dispersed ownership structure so that its internal governance was probably more likely to match the Anglo-American approach then the approaches in other jurisdictions with less dispersed ownership structures.

References

1. McCrindle, J.W. - Ancient India As Described By Megasthenes And Arrian 1-181 (discussing Megasthenes' India) (Revised Ed. R. C. Majumdar, 1960).
2. Gupta, S.P. - Infra note 219, at 279; Mookerji, infra note 341, at 137 (discussing how in the Gupta Empire, circa 400 A.D. the oral tradition still held strong).
3. Gupta, S.P. - The Indus–Sarasvati Civilization: Beginnings and Developments, in The Dawn of Indian Civilization (Upto 600 B.C.)
4. Bisht, R.S. - Harrappans and the Rigveda: Points of Convergence, in The Dawn of Indian Civilization (Upto 600 B.C.) 393 – 442 (G.C. Pande, Ed, 1999).
5. Gupta, supra note 21, at 329-30 (nothing that the Indus seals are still undeciphered).
6. Vikramaditya S. Khanna, The Economic History of the Corporate Form in Modern India, Draft 2005.
7. Mahabharata; XII 37.14, XII 59.49, and XII 138.63;
8. Ibid, 103,
9. Kak, Sindhu Saraswati, op. cit. 220.
10. Hansmann & Kraakman, op. cit., 6 at 25-28
11. See Jean- Francois Jarriage, Excavations at Mehargrah, in Harappan A Civilization Ed. Gregory I, Prossehi, 79 (1993)
12. Kenoyer, op. cit., 219
13. Kenoyer, op. cit., 219, at 37-38. For more detailed discussion see Jonathan Mark Kenoyer, Trade and Technology of the Indus Valley: new insights from Harappa, Pakistan, 29 World Archaeology 262 (1997).
14. http://news.bbc.co.uk/hi/english/health/newsid 1272000/1272010.stm (BBC news story).
15. Gupta; op. cit., 219, at 285-94
16. Gupta; op. cit., 219, at 283-84.
17. Kenoyer, op. cit., 219, at 49-68.
18. Lal, B.B. - Decline and Legacy of the Phase of the Indus Civilization, in The Dawn of Indian Civilization (Upto 600 B.C.) (G.C. Pande, Ed.) 443-64 (1999).

19. Kenoyer, op. cit., 219, at 49-50; Gupta, op. cit., 219, at 270-73, 313-27.
20. Kenoyer, op. cit., at 50; Gupta, op. cit., 219, at 272-75, 306-27
21. Kenoyer, op. cit., 219, at 99-100.
22. http://www.harappa.com/indus2/oldworld.html.
23. http://www.harappa.com/indus /map.1.html.
24. Thapalayal, Kiran Kumar - Studies in Ancient Indian Seals, 1962, 18
25. Kenoyer, op. cit., 219.
26. Kenoyer, op. cit., 219, at 15, 42, 81-82.
27. Kenoyer, op. cit., 219, at 26, 81.99.178, 182.
28. Kenoyer, op. cit., 219, at 69-81.
29. Kenoyer. op. cit., 219, at 69-81.
30. Ibid., at 18
31. Kenoyer, op. cit., 219, at 26, 81, 99,178,182.
32. This commonality is analogous to the efforts of the European Union in creating a single currency (the euro) to bfacilitate trade by reducing the transactions costs associated with transnational trade.
33. See Bernstein, opting out, op. cit., 35.
34. Kenoyer, op. cit., 219, at 69-81, 83 -90.
35. Kenoyer, op. cit., 219, at 83 -90.
36. Lal, op. cit., 235 , at 443 –
37. Kenoyer, op. cit., 219, at 173-85.
38. Das; op. cit., 20, at 39 – 83.
39. *Brihadaranyaka Upanishad* with Sankara's Commentary 1.411-12() 1953; Majumdar, op. cit., 18, at 14.
40. Sharma, Ram Sharan - Role of property, family and caste in the origin of the state in Ancient India in essays, Infra Note 264, and at 4.
41. Roughly in the 6th Century B.C. Siddhartha Gautama, see Thapyal, op. cit., 18, at 24-27.
42. T.W. Rhys Davids, Buddhist India (1959); Adhya Infra Note 314, at 84 – 85.
43. Bose; op. cit., 28, at 62-63.
44. Thaplyal; op. cit., 18, at 16.
45. Thaplyal, op. cit., 18, at 15-16.
46. Ibid., 15, 57-60; Das op. cit., 20, at 68.
47. Agrawala, op. cit., 44, at 268
48. Ibid., at 24-27., Das, op. cit., 20, at 60-68; Sharma, op. cit., 264, at 137 -39.
49. Majumdar; op. cit., 18, at 18-19.
50. Das, op. cit., 20, 67 -69.
51. Majumdar, op. cit., 18, at 18 -19. Jataka IV, op. cit., 63, at 37.
52. Jataka IV; op. cit., 63, at 37.

53. Text accompanying notes 70 to72.
54. *Gautama Dharmsutra* XI; op. cit., 85, at 23.
55. Mookerji, Radha Kumud - Chandragupta Maurya and his times 22 -36, 44, 219 (1966); Romila Thapar, Asoka and the Decline of the Mauryas. 13 -19 (1997).
56. Thapar, op. cit., 272, at 13 -16.
57. http://ancienthistory.about.com/gi/dynamic/offsite.Htm?site=http://www.wsu.edu:8080/%257Edee/ANCINDIA/ MAURYMAP.HTM@1996, Richard Hooker.
58. Thapar, op. cit., 272, at 13-16.
59. Mookerji; op. cit., 272, at 204-10.
60. Gokhale, Balakrishna Govind - The Merchant in Ancient India.
61. Kangle, *Arthasastra*, Part III, op. cit., 278, at 59-115.
62. Ethics of Chanakya: Chanakyaneeti (T.Y. Ramesh Trnsl.) (1997).
63. Mookerji, op. cit., 272, at 1-46.
64. Thapar; op. cit., 272, at 119-20.
65. Infra discussion part IV. F.
66. Mookerji, op. cit., 272, at 102.
67. Kangle, op. cit., 278, at 401-2.
68. Ibid., at 401 -2; 11.1.1 -56.
69. Kangle, op. cit., 278, at 244 – 65
70. Kangle, op. cit., 278, at 166 – 93
71. Hansmann & Kraakman, Supra note 6, at 25-28.
72. Kosambi, D.D. - The State and Commodity Production in the Magadha State (500 to 200 B.C.).
73. Kangle, Paper II, op. cit., 278, at 2.5 – 2.3.6.
74. Kangle, op. cit., 278, at 2.7.9 – 10; 2.9.12; 2.9.25; 4.5.1 –18; 5.1.45; 11. 1.6 -14.
75. Kangle, op. cit., 278, at 2.1.1– 2.36.47
76. Kangle, op. cit., Part III, at 173-83.
77. Kangle, op. cit., 278, at 3.11.1 -50.
78. Kangle, op. cit., 278, at 2.7.2, 2.7.6, 3.11 -12, 4.1., 5.2.46 -48.
79. See Ibid, at 4.2.18-19. Cornering a market presumes the existence of a market of some kind.
80. Thapar, Supra note 87.
81. Kangle, op. cit., 278, at 2.7. 2, 2.7.6,, 3.7.40.
82. Kangle, op. cit., at 2.7.2, 11.1.6 – 7.
83. Majumdar, op. cit., 18, at 23.
84. Mookerji, op. cit., 272, at 236 -45. Many of these pillars exist to this day.
85. Thapalyal, op. cit., 18, at 18 -20.
86. Mookerji, op. cit., 272 at 236 -45.

87. Kangle, op. cit., 278, at 4.11.13;4.12.1 -40;4.13.1;4.13.32.
88. Majumdar, op. cit., 18, at 296 -310.
89. Thapar; op. cit., 272, at 1660.
90. Ibid, at 144-47.
91. Kangle, op. cit., 278 ,at 2.11 -2.36.47.
92. Thapar, op. cit., 272, at 202 -05.
93. Thapar, op. cit., 272, at 202-05.
94. Thapar, op. cit., 272, at 70, 81.
95. Thapar; op. cit., 272, 197-213.
96. North and South India were not unified again until the Mughal Empire in medieval india around the 15th and 16th centuries.
97. Adhya, Gobinda Lal - Early Indian Economics Studies in the Economic Life of Northern and Western India A.C. 200 B.C. -300A.D. 11-13 (1966).
98. Adhya, op. cit., 314, at 13.
99. in; at 11-17;-JN. Banerjea.
100. Adhya; op. cit., 314, at 11-17.
101. Adhya; op. cit., 314, at 18-19.
102. Shastri, K.A. Nilakanta - The Pandya Kingdom : From The Earliest Times to the Sixteenth Century Passim (1972).
103. Das; op. cit., 20, at 122.
104. Adhya, op. cit., 314 at 20-24.
105. Gopalachari in Comprehensive History, op. cit., 314, II, at 293-327.
106. Das; op. cit., 20, at 107-34.
107. Minakshi, C. - Administration and Social Life under the Pallavas (1997)
108. Aiyangar; op. cit., 319, at 592-734.
109. Das; op. cit., 20, at 107 – 34.
110. Das; op. cit., 20, at 128-29.
111. Adhya; op. cit., 314, at 124-28.
112. Das; op. cit., 20, at 107-34.
113. Das; op. cit., 20, at 107-34.
114. Das; op. cit., 20, at 156-57.
115. Thaplyal; op. cit., 18, 28-29.
116. Das; op. cit., 20.
117. Das; op. cit., 20, at 131-32.
118. Adhya; op. cit., 314, at 82.
119. Cf. V.S. Khanna, Corporate Criminal Liability: What Purpose Does it Serve?
120. Yajnaval, op. cit., 46, at 186-92;
121. Ibid, 46, at 186-92.
122. Gary S. Becker, Crime and Punishment: An Economic Approach,

123. http://www.wsu.edu:8080/~dee/ANCINDIA/GUPTAMAP.HTM@1996, Richard Hooker.
124. Mookerji, Radha Kumud - The Gupta Empire (1989).
125. Ibid, 341, at 13 –17.
126. Ibid., at 38 – 40.
127. Ibid, 341, at 135 – 55.
128. Ibid, 341, at 44 – 69.
129. Ibid, 341, at 150 – 55.
130. Ibid, at 19 – 29, 150 – 55.
131. Thaplyal; op. cit., 18, at 32 – 36.
132. Ibid, at 30 – 32, 139 – 41.
133. Ibid, at 148 – 55; Das, op. cit., 20, at 134, 135 (discussing rest houses for travelers), 136 – 56.
134. Thaplyal, op. cit., 18, at 183 – 84.
135. Mookerji, op. cit., 341, at 129 – 30.
136. Das, op. cit., 20, at 149 – 53.
137. Mookerji; op. cit., 341, at 135 – 148.
138. Paramhans, S.A. - Foundations of Indian Mathematics an Geometrical Ideas in the Sulba Sutras, in Comprehensive History, op. cit., 314, II, at 665 – 97.
139. Das; op. cit., 20, at 138.
140. Mookerji; op. cit., 341, at 66 – 68.
141. IIT Team Solves the Pillar Mystery, Times of India, 21 March 2005.
142. Das, op. cit., 20, at 139 – 41.
143. Mookerji, op. cit., 341, at 49, 148 – 50.
144. Thaplyal; op. cit., 18, at 32 n. 109.
145. Mookerji, op. cit., 341, at 49, 148 – 50.
146. Text accompanying note 339.
147. Mookerji, op. cit., 341, at 148 – 49.
148. Thaplyal, op. cit., 18, at 180- 94.
149. Mookerji; op. cit., 341, at 120.
150. Mookerji; op. cit., 341, at 104 –106.
151. Agrawala, Vasudeva Sharan - The Deeds of Harsha Being A Cultural Study of Bana's Harshacharita.
152. Goyal, op. cit., 368, at 167 – 181, 214 – 226.
153. Goyal, op. cit., 368, at 182 – 226.
154. Das, op. cit., 20, at 156 – 74.
155. Das, op. cit., 20, at 161 – 66.
156. Thaplyal; op. cit., 18, at 143.
157. Puri, B.N. - The History of the Gurjara-Pratiharas (1986).

158. Thaplyal, op. cit., 18, at 142 -43.
159. Ibid, at 143.
160. Ibid, at 140 – 41.
161. Ibid, at 143.
162. Ibid, at 143 – 44.
163. Ibid, at 144 – 45.
164. Agrawala, op. cit., 44, at 281 – 85.
165. Timur Kuran,
166. Kuran, Stagnation, op. cit., 382, at 72 – 76.
167. Hansmann, et al, op. cit., 6.
168. Cf. Khanna, op. cit., 336.
169. Max Weber, General Economic History 151 – 63 (Frank H. Knight, Trans.)(1961).
170. Text accompanying notes 360- 365.
171. The Gupta empire obtains uniformity in a fairly inexpensive way by not having very large coordination costs and also by not having very large bureaucracy (corruption) costs compared to the other state structures which may have been inexpensive on one front but not on the other (s).
172. Cf. Thaplyal, op. cit., 18, at 16.
173. Thaplyal; op. cit., 18, at 18.
174. For discussion on the difficulty of collection action see Mancur Olson, The Logic of Collective Action: Public Goods and the Theory of Goods (1971).
175. Robert Ellickson, of Coase and Cattle: Dispute Resolution among Neighbors in Shasta Country, 38 Stan. L. Rev. 623 (1985).
176. Thapyal, Kiran Kumar - op. cit., 241
177. The Prospects for Global Convergence in Corporate Governance and its Implications, 93 NW. UL. Rev. 641 (1999).
178. Text accompanying notes 271,298-299; 332-337; 360-365.
179. e.g., Federalism, op. cit., 390.

Centre and Bihar State Relations during Rabari Devi's Rule

Mohd. Anzar Alam*

Rabari Devi's appointment as a Chief Minister on July 25,1997 was a dramatic turn of events. The CBI sleuths had cordoned off Lalu Prasad's residence in a bid to nab him on the charges in fodder scam. He had already stopped moving out of 1, Anne Marg, his official residence, though the Assembly House was in session. The sleuths retreated when the Supreme Court gave him temporary relief by staying his arrest warrant till 29 July, 1997. The CBI detectives were dancing to the dictates of the CBI's Joint Director, U.N. Biswas. He wanted to accomplish his mission before Lalu Prasad could resign from the post of Chief Minister. It was 11.30 A.M. and U.N. Biswas was with the then Chief Secretary B.P. Verma in the latter's office. Soon, Home Secretary D.P. Maheshwari and DGP, S.K. Saxena were summoned. As the duo arrived, Biswas handed over the non-bailable arrest warrant against Chief Minister (C.M.) Lalu Prasad to Verma and requested that the warrant be executed. The Chief Secretary drove straight to the C.M.'s residence to meet the Chief Minister and produced the fate accomplish.[1]

The change of the head of the United Front Government at the Centre was hardly proving to be of any help to the beleaguered Chief Minister. I.K. Gujral, who owed his new position as Prime Minister to Lalu Prasad, had raised his hands in complete surrender. To add insult to injury Gujaral even issued statements taking ambiguously of Bihar's Chief Minister and indirectly advising Lalu Prasad to respect precedents and resign. Gujaral said at a public rally at Badayun (U.P.) on July 9, 1997: "Those holding public offices must subject themselves to the test of probity and when people in public offices face charges of corruption, they are left with no alternative but to give up their offices."[2] These words emanating straight from India's Prime Minister were enough to leave Lalu Prasad restless. The fact that the Prime Minister had made those public remarks in the company of the Railway Minister

* Director, Salvation Centre for Social and Educational Development, F-11/13,Street No.6, Joga Bai Extn., Okhla, New Delhi (India)

Ram Vilas Paswan, Lalu's arch rival, had made everything crystal clear about what the United Front Government, at the Centre wanted. Gujaral did not stop by indicating what he wanted. He further said: "If a Minister eventually turns corrupt, action has to be taken against him and we will do so."[3] The final blow from the Prime Minister came mere three days before the Court echoed a similar opinion and shut all the doors on the embattled Chief Minister. Gujaral made the following remarks while replaying to a question on the growing corruption in the country during an interview to a Private T.V. Channel in New Delhi on July 20, 1997: "Corruption has steeped into the veins of the nation and something drastic needs to be done to checkmate corrupt practices specially among those holding ministerial position."[4] Such strong statements coming from the Prime Minister at an interval of 12 days had conveyed an explicit message that the days of Lalu Prasad as Chief Minister were numbered and he must stop expecting the Central Government will bail him out. All the help routes from the United Front Government were totally closed.

Lalu Prasad was charge-sheeted in the fodder scam. The charges were of large scale embezzlement of funds meant for purchasing animal fodder. This siphoning off of funds came to be known as 'Fodder Scam,' which was dubbed as the 'mother of all scams.' The day of 24 July, 1997 gave twin blows to the Chief Minister. The anticipatory bail petition which Lalu Prasad filed before the Patna High Court in the Fodder Scam Case No. RC20/96 was rejected outright. The rejection came along with a very strong observation by the High Court bench comprising Justice D.S. Dhaliwal: "What these persons (the accused) have allegedly done is a crime against the nation and by committing the act they have swindled the money of taxpayers. Considering the serious allegation against these persons, it was not inclined to grant the privilege of anticipatory bail."[5] The State Administration hurriedly called men from the Rapid Action Force and other Para-military forces to take position. The arrest of Chief Minister seemed imminent at any moment. But hope was still not completely lost for Lalu Prasad. The route of appeal to the Apex Court was still open and the Chief Minister was determined to exercise it. As such, Shanker Prasad Tekriwal, Minister of Mines immediately rushed to New Delhi by a State Government plane to file an anticipatory bail petition on behalf of Lalu Prasad in the Supreme Court. Tekriwal was accompanied by two lawyers- Shakeel Ahmad Khan and Shashi Anugrah Narain.

Lalu Prasad's predicament provided the rebel camp within RJD with a fresh dose of adrenaline. Encouraged by the promise of support from NDA, they were

ready to revolt. The plan to topple Lalu Prasad was well formulated and clearly visible. The NDA had gone a step further and had even started distributing sweets and throwing gulal on the busy streets of Birchand Patel Marg, where the offices of both the BJP and its allied partner, the Janata Dal (United) are located. Just when the battle gears were being primed, Lalu Prasad's political Private Assistant P.R. Sinha, came rushing with a good news that the Supreme Court has granted a conditional stay on his arrest till the 29 of July, 1997. A sudden meaningful smile flashed across Lalu Prasad's face. He had got reprieve from arrest for the next three days and this gave him enough time to chart out a plan and give it a concrete shape. He had the deadweight to pick out his successor from the crowd of power-hungry Party leaders. The successor had to be one who would protect the Party and the government and also be loyal to him during the period of incarceration." Lalu Prasad knew that any delay over it would leave the Chief Minister's chair vacant and lead to the imposition of President's rule in Bihar. Once his Party was out of power, the CBI, working under direct control of the United Front Government at the Centre, could go to any extent to compel witnesses to speak against him.

Rabari Devi's Ascendancy to Politics and Power:

There was already a mad scramble among RJD leaders to usurp power, to take advantage of the fluid political situation. There was a Muslim lobby within the Party that suddenly perked-up with the rumour that Lalu Prasad may nominate a Muslim as Chief Minister. Abdul Bari Siddiqui, Shakeel Ahmad Khan and Jabir Hussain were in the race. With a Yadav leader gone, a Muslim obviously had the rightful claim to power since the RJD had been surviving solely on the support of the M-Y Community. But this was opposed by the Yadav lobby. The upper caste lobby too had become active and wanted its share in the corridors of power. The onerous task of choosing a suitable successor was still pestering Lalu Prasad. The dozen old names that were produced for the Chief Minister ship had failed to achieve a consensus. While the discussion regarding the successor was still going on, a group of 20 MLA's suddenly rushed in and proposed that Rabari Devi ascend the Chief Ministerial post. Upon hearing the suggestion, which acted as ray of hope that had been eluding him, a silent Lalu Prasad suddenly cried 'Eureka, Eureka ... .'[7] (found a solution to the problem). The beleaguered RJD leader now had finally found a solution to the problem that has been troubling him for long. The senior RJD leader Shakeel Ahmad Khan said: " Rabari Devi' s installation was accidental not preplanned."[8] Yet her election as the RJD Legislature Party Leader was by consensus.

Everyone seemed to have realised that there was no alternative. Lalu Prasad had toiled hard to safeguard the RJD's foundation after it was formed following a split in the Janata Dal. Most RJD leaders felt Rabari was Lalu's reflection and that she could lead the Party in his absence.

Without causing any further delay, Lalu Prasad picked up his phone and rang Prime Minister I.K Gujral followed by Bihar Governor A.R. Kidwai, Tamil Nadu Minister M. Karunanidhi and finally Assam Chief Minister Praful Kumar Mohanta. All of them advised him to go ahead with his plan and nominate his wife as his successor. Later, he turned towards his most trusted 'friend, philosopher and guide and the Chief of JMM, Shibu Soren, who always helped Prasad in times of crisis. This time too he did not let the Bihar Chief Minister down. He immediately seconded the move to install Rabari Devi in his place. Soon, an emergency meeting of the Legislature Party was called during which the Chief Minister offered his resignation. The meeting elected Rabari Devi as the Leader of RJD Legislature Party. Within no time, as many as 160 Assembly Members had already signed the resolution to elect Rabari Devi. There was no voting. No sound of clapping was heard over the election of the new Chief Minister. Lalu Prasad was cool, composed and to some extent pleased. He handed two letters to the Governor A.R. Kidwai - one of his resignation and another of his wife's appointment as the new leader and her claim to form the next government. She took oath on the 25 July, 1997. Merely five days later on 30 July, 1997 at 11 A.M., Lalu Prasad surrendered before the designated Judge of the CBI Court, Sudhanshu Kumar Lal. He told the Judge: "**Hazoor, aapke permission se yahan aaya hun; koi khatra nahi hai.**"[9] The judge rejected his bail after forcing him to stand in the Court for 45 minutes and sent him to Jail. All impassioned arguments by the lawyers failed to move S.K. Lal. Some ten years later, charges against Lalu Prasad were still to be proved. The strong headed Lal, who discovered merit in the charges against Lalu Prasad, was later caught on the charges of sexual misconduct with his fellow female colleague, Sushma Kashyap."[10]

R.B. Roy, RJD Spokesman,[11] Raghuvansh Prasad Singh, Ex-RJD, Central Minister and Chandeshwar Prasad Singh of RJD,[12] on a question of appointment of Rabari Devi as Lalu's successor, replied: A conspiracy was hatched by Lalu's rivals to remove him from the Chief Minsiter's post and they made him falsely implicated in foddar scam. As Lalu Prasad decided to surrender before the Judge, he was looking out for his successor. There was none in the Party, who could be relied upon as his successor. Some of the senior leaders of the Party (RJD) advised him to appoint his

wife, Rabari Devi, as his successor. This proposal was accepted by Party leaders, although Lalu Prasad was initially not agreed to the proposal. Ultimately, Rabari Devi was elected as JLP leader of RJD. But Sudhanshu Sinha of JD (U) pointed out that Lalu had no faith on anyone nor his Party men nor on the people of Bihar. His only aim was to retain the Government. So, he appointed his wife as his successor. Her Government was undemocratic. This infuriated his Party men.[13]

Rabari Devi's role as a Chief Minister and Centre - State Relations:

The moment Rabari Devi took over the reins of the State on 25 July, 1997, the opposition heaped uncharitable epithets on her, as described by Manoj Chaurasia:[14] - a 'seat warmer', 'kathputli' 'gwalin', 'dehati, 'gobarthokani', 'rubber-stamp', 'illiterate' and one not knowing the basics of running the State administration. They described Bihar under the governance as akin to 'Jungle Raj'. There were still others, who re-christened Bihar as 'Rapistan'.[15] She had to face concerted attacks by the NDA. Clever and shrewd bureaucrats wanted to take advantage of her ignorance of governance. To understand their Psyche in Bihar in Rabari's time one needs to recall what T.N. Seshan, the former Chief Election Commissioner of India said about them. He dedicated a number of pages in his book. 'A Heart Full of Burden' to describe bureaucrats: "The Indian Civil Service was neither Indian nor civil nor service. What is the IAS, apart from saying 'I am sorry."? I am saying in public that the Civil Service in India has got reduced to the condition of polished call girls."[16] An inexperienced Rabari, totally divorced from active polities, handled even those smart looking and sorry-saying babus quite deftly despite being nearly illiterate.

During her initial stint as the Chief Minister, her government was always in danger of being overturned. She had to seek trust vote of the Assembly as many as four times, to prove that she enjoyed support of the assembly members. In a period of three years, she had to pass the floor test on July 28, 1997; 21 March, 1998; 19 March, 1999 and 16 March, 2000. Each time she came out with flying colours and dampened the spirits of the overzealous opposition which had hoped that Rabari would flounder. On all such occasions, she proved that she had started tightening her grip over political management and keeping the over ambitious bureaucrats well under control. She successfully completed her third term in office. Her three terms as Chief Minister were interspersed with brief periods of the presidents Rule and the seven day reign of Nitish Kumar. Her first term as Chief Minister lasted for less than two year and ended on 12 February, 1999 when her Government was dismissed and president Rule imposed.

The NDA left no stone unturned in ousting Rabari Devi from power. In February 2000 Rabari Devi was again out of power for eight days. Although the RJD emerged as the single largest party with 124 seats in February 2000 Assembly Elections, but it failed to get majority. This gave some room to Governor Vinod Chandra Pandey to exercise his 'discretion' and interpret the mandate as he wanted. At the behest of the NDA at the Centre, Governor Pandey invited Nitish Kumar, who was then the Union Agriculture Minister to form the NDA Government in Bihar. The Samta Party Alliance had won only 66 Assembly seats. When Rabari Devi went to the Governor to stake claim to form her Government; she noticed that preparations were underway in the Raj Bhawan to appoint Nitish Kumar as Chief Minister.[17] Rabari Devi cried foul, Lalu Prasad termed it a 'murder of democacy'.[18] All this did not deter Nitish Kumar from taking oath as the 31 Chief Minister of Bihar on 3 March, 2000. But then Nitish Kumar's tenure eventually turned out to be a proverbial 'nine day wonder'. Nitish was asked to prove his majority on the floor of the State Assembly within 10 days. He tried his best and deployed all means but failed to get the numbers to prove his government to be in majority. Seeing no hope of survival, Nitish Kumar drove to the Raj Bhawan and tendered his resignation to Governor V.C. Pandey. Rabari Devi, who was the rightful claimant was invited to form the Government and she took oath as the State's 32 Chief Minister on 11 March, 2000. This was the third time she was being administered the oath of office and secrecy as the Chief Minister. This time she was to last for a full five-year term.

Raghuvansh Prasad Singh, Ex-RJD Central Minister expressed his views in course of interviews with this author.[19] and R. B. Roy, RJD Spokesman replied on the question to appointment of Nitish Kumar as a Chief Minister of Bihar.[20] Governor Vinod Chandra Panday had taken such step on the pressure put by the NDA Government at the Centre. This action of the Governor in appointing Nitish Kumar as Chief Minister was vehemently opposed by the RJD members. But S.Javed Raza, General Secretary of JD (U) gave a different version. "He said that when the list was submitted to the Governor, NDA was in majority and the Governor was assured that majority would be proved within a week. But the NDA failed to prove the majority."[21] According to Uday Shankar Sharma and Navin Kumar Arya of JD (U): "Neither Rabari Devi had the majority nor Nitish Kumar. The Governor took action in his discretion and invited Nitish Kumar to form the Government, but he failed to prove majority in the House."[22]

Centre and Bihar State Relations After 1999 Lok Sabha Elections:

Bihar faced a total of seven major elections, three elections each for Lok Sabha and Assembly and one for the Panchayats under the leadership of Rabari Devi. Her party fared well on all occasions except for the Assembly Elections of 2000. In the 1999 Parliamentary Elections, RJD managed an impressive victory winning 17 seats out of 54, though the number of seats went down in comparison to the 1996 Lok Sabha Elections. Lalu' s leadership of the Yadav caste remained un sailed in 1999 elections. Lalu could also win by a solid 60, 921 votes mostly of the Rajputs.[23] The RJD-led group included the JMM and the Congress. At the conclusion of the 1999-Lok Sabha Elections as Walter Hauser rightly pointed out: "The BJP-Samta Alliance had in a very real sense, filled the political space opened by the weakening of Lalu Prasad's dominance of 1991."[24] In the 1999 Parliamentary Elections, the BJP with 23 seats and its ally JD (U) with 18 emerged victorious, while the RJD with seven and its allies five-the Congress four and the CPI(M) one-appeared to be loser. But the NDA were shocked when the RJD, under Rabari's control, bounced back to power in Bihar after the 2000-Assembly elections in which RJD won 124 seats, although the entire opposition had become aggressive after forming a government at the Centre. In the Parliamentary Elections of 2004, RID gave a terrific performance and proved that 1998 and 1999 were mere aberrations in Bihar and not trend-setters. The RJD-led Secular Democratic Front (SDF) swept the polls and won 29 of the 40 Lok Sabha Seats. The RJD alone was able to win 22 Lok Sabha seats. This however, made Lalu Prasad arrogant. He was so emboldened that during the campaign in 2005 Assembly polls, he would regularly say from all public platform that the Feb. 2005 elections were merely a "renewal of Rabari's 20-year-old contract with the masses."[25]

The bonhomie in SDF was short-lived and within a few months of being in power at the Centre, serious differences cropped up between RJD and LJP. The two parted ways despite staying together at the Centre and this marked the beginning of RJD's downhill journey in Bihar. In February, 2005 Assembly Elections, LJP formally broke its relation with RJD. LJP also succeeded in weaning the Congress away from Lalu Prasad with the result that the LJP and the Congress contested the polls together and RJD contested on a separate platform. In the triangular contest among the political groups led by Nitish Kumar, Lalu Prasad and Ram Vilas Paswan, Rabari Devi was voted out but none of the Parties or the alliances could form the government. Since more of the coalitions were able to join hands to form Government, the Centre imposed

President's rule in Bihar on 7th March 2005 and the Assembly was kept under suspended animation by the then Governor of Bihar Sardar Buta Singh. RJD managed to win only 75 seats. The subsequent Assembly polls held in October-November the same year (2005) saw RJD's winning seats reach an all time low of 54. This marked the exit of RJD from power, installation of Nitish Kumar as the Chief Minister and emergence of a new role for Rabari Devi as the Leader of Opposition in the Bihar Legislative Assembly.

In an interview by Ammu Joseph with Rabari Devi, he expressed his view about Rabari Raj in narrating in her own words: "Forgotten now, it seems, is the fact that a few months after she took over the government in 1997 she was described as 'Bihar's most dignified Chief Minister in living memory by India Today. She had established her own method and style of functioning and thereby gained the grudging respect of a broad range of people, including senior politicians and bureaucrats and even an industrialist. She disputed the widespread assumption that her husband was the de facto Chief Minister while she merely danced to his tune claiming that this false impression was created by the indisputable fact that they are married and share a home. 'He does give me advice and I don't listen to his suggestions'. She admitted that she was still a reluctant Chief Minister".[26]

According to Rabari Devi, she supports the hitherto ill-fated legislation to reserve seats for women in Parliament and Legislative Assemblies. She dismissed the controversial comment about women with short hair made by her husband's political rival and fellow Yadav as irrelevant. Yet the number of women fielded by the RJD in recent General and State Elections is impressive, although it was apparently a record high in the history of her Party and saw the entry of five RJD women into the Assembly as well as one in Parliament.

Rabari Davi blamed the State's poor record on number of important aspects of development such as education and health care, partly in the intractability and intransigence of the lower-level bureaucracy. 'How many people can one suspend or dismiss?' She asked, adding that some work got done despite everything. But she also laid a large part of the blame for Bihar's plight at the doorstep of the Union Government. Accusing the Central Government of "Step-motherly' treatment (her word), she asserted that Bihar's problems were largely due to the Centre's callous attitude and indifferent approach to the State. She also criticised the attitude of the Members of Parliament from Bihar who according to her were more interested in promoting their own interests than those of the State and its people, even though

they had not been sent to Delhi, 'to procure petrol pumps for themselves', as she put it. She alluded to the additional pauperisation of Bihar by its bifurcation and the creation of Jharkhand as a separate State and highlighted the failure of the Central Government to deliver on its promise of special package to kick start development in the truncated area of Bihar. 'Much of industry in the formerly unified State has now gone to Jharkhand,' She pointed out. 'Here there is nothing but flood and draught.' Her excuse for the government's failure to fully utilise the funds allotted to Bihar in the last Five year Plans 'We have had four elections in four years.'

Her talent leadership qualities were widely noticed soon after the NDA Government at the Centre acting on the recommendation of the then Governor Sunder Singh Bhandari, sacked her constitutionally elected RJD Government and clamped President's Rule in Bihar on 12th Feb. 1999, citing the plea of 'a total breakdown of law and order.' She cried hoarse, came on the streets with the kitchen instruments and banners and fired verbal salvos against the Governor and screamed: '***Langara Bhandari go back.***'[27] Such was her power that the Central Government was finally forced to act swiftly and revoke the Presidential Proclamation on 9th March, 1999. In the Lok Sabha and Assembly Elections, she emerged as a star campaigner along with Lalu Prasad. She went on addressing more and more election rallies without any support from any quarter. She did it alone. Rabari' s determination was also evident when she used her veto power to ensure the ouster of Lalu Prasad's childhood friend Ranjan Yadav from the RJD. Union Minister of Agriculture, Hukumdeo Narayan Yadav took everyone by surprise when he compared Rabari Devi with Razia Sultana.[28]

Conclusion:

Centre-State relations during Rabari Devi Rule for eight years from 1997 to 2005 were also the crucial points to be investigated. Her role as a Chief Minister was also a peculiar feature. Being illiterate and unknown of the basics of running the State administration, her period of governance was described as jungle raj. Shrewd bureaucrats wanted to take advantage of her ignorance of governance. But, in spite of all these deficiencies, Rabari Devi handled the bureaucrats quite deftly. Her latent leadership qualities were widely noticed. All these things including the use and misuse of powers during RJD-Rule and lastly the step-motherly treatment by the Central government in allocating disproportionately low sum by way of share of the Central government causing strained Centre-State Relations have also been widely and critically examined in this article.

Imposition of President's Rule (under Article-356) during Lalu-Rabari in Bihar has mostly being misused for the political purpose to have a favourable government in this State.

The partisan attitude adopted by the Central government towards Bihar State has also been responsible for tension between the Centre and Bihar State relations. The difference in the ideology of NDA party in power at the centre and the RJD party in power at the State level has been responsible for tension in the Centre- Bihar State relations.

References :

1. Chaurasia, Manoj - Rabari Devi- Lalu's Masterstroke, New Delhi: Vitasha Publishing Ltd., 1008, pp. 46.
3. Hindustan Times, New Delhi and Patna: July 10, 1997.
4. Ibid.
5. Chaurasia, Manoj - op.cit, pp. 64.
6. Hindustan Times, New Delhi and Patna: July 25, 1997.
7. Chaurasia, Manoj - op.cit., pp. 46.
8. Ibid, pp. 50.
9. Ibid.
10. Ibid, pp. 58.
11. Ibid, pp. 60.
12. Ram Bachan Roy's reply to the Questionnaire.
13. Baesd on Personal Interview with Raghuvansh Prasad Singh on 10 March, 2010 and Chandeshwar Prasad Singh on 16 May, 2010.
13. Based on Personal Interview on 16 May, 2010.
14. Chaurasia, Manoj - op.cit., pp.60.
15. Ibid.
16. Ibid, pp. 61.
17. Ibid, pp. 72.
18. Ibid.
19. Based on Personal Interview on 10 March, 2010.
20. Ram Bachan Roy's reply to the Questionnaire.
21. Based on Personal Interview on 4 March, 2010.
22. Based on Personal Interview on 6 May, 2010.
23. Binay Shankar Prasad, 'Split the Votes and Win the Elections: and Analysis of the 12th Lok Sabha Elections in Bihar" in Ramashray Roy and Paul Wallace (ed), Indian Politics and 1998 Elections: Regionalism, Hindutva and State Politics, Delhi: Sage Publication 1999, pp. 151.
24. Ibid.

25. Chaurasia, Manoj - op.cit; pp.74.
26. Ammu Joseph, "Rabari Raj: A Side View of Bihar" in Ramendra Kumar Yadav (ed), Bihar: Myth and Reality, Gurgaon: Hope India Publication, 2004, pp. 34-40.
27. Chaurasia, Manoj - op.cit; pp. 98.
28. Ibid, pp. 121.

A Study on the Development of Memory Performance

Pragyesh Kumar Mishra*

Abstract: The study attempted to find out the effect of age, schooling and retention interval on memory performance in children. The sample consisted of 360 children belonging for Gorakhpur and Mau district. The present study was conducted in following 3x3x2 factorial design with three levels of age group (7+ years, 11+ years and 14+ years), three levels of retention interval (immediate, 1 day and 7 days) and two levels of type of schooling (advantaged and disadvantaged). Obtained results show that the memory performance scores increased consistently with increasing level of age. Memory performance score decreased with increasing retention interval. Furthermore, memory performance score is much greater for the participants of advantaged school than participants of disadvantaged school.

Keywords: Memory performance, Memory strategy, Schooling,

Introduction

Memory is one of the most complex cognitive processes extensively studied in the area of experimental-cognitive psychology. The theory of cognitive development propound by Piaget (1950, 1952b) has emphasize various achievements during concrete operational stage, which spans the years from 7 to 11. During this period, the thought of children is far more logical, flexible and organized than it was during childhood. A number of cognitive processes have been evident during this stage. For example, conservation refers to mental actions that obey logical rules, decentration i.e., focusing on several aspects of a problem and relating them, reversibility, the capacity to think to a series of steps and then mentally reversing the direction. Apart from this, classification, seriation and spatial reasoning are also the characteristics features of concrete operational stage.

The present study was conducted to investigate the effects of age, retention interval and type of schooling on memory performance. Tests of memory span usually

*Research Scholar, Department of Psychology, D.D.U. Gorakhpur University, Gorakhpur

measure the number of items thatcan be correctly recalled in order Immediately after presentation. Memory span for both words and visual patterns improves dramatically during childhood (Scheinder&Bjorklund, 1998). According to one estimate, for example, a 2-year-old can recall an average of two numbers in a row, whereas a 9-year-old can recall six (Kail, 1992).Factors such as imagery ability help to account for older children's greater recall of visual patterns (Kail, 1997b).

To test recognition, the researchers showed children 18 objects. Then they presented 36 items including the previous 18 objects and 18 new objects. The 2-year-olds recognized about 80% of the items, and the 4-year-olds recognized about 90% of the items(Myers&Perlmutter, 1997).

Childrenwant to remember something that must be recalled at a later time, they are likely to use memory strategies. Memory strategy use is linked to memory performance (Schneider & Pressley, 1997).

Cross-cultural comparisons of memory performance by individuals varying in schooling experience allowed consideration of whether the changes in memory performance observed among childhood in the USA might be due to experience with school rather than maturation (Rogoff, 1981; Sharp et al., 1979). Western children enter school at about age 5, and there is high correlation between age and grade in school thereafter until adulthood. Hence, there is a danger that "Cognitive-developmental research has been measuring years of schooling using age as its proxy variable" (Laboratory of comparative Human cognition, 1979, 1983). Cross-cultural researches demonstrated that performance on free-recall tasks and related tasks was closely related to the extent of schooling that individuals had received (Rogoff, 1981; Rogoff and Mistry, 1985).

Reviews of cross research on cognitive development (Rogoff, 1981) and memory (Rogoff and Mistry, 1985) conclude that, taken together, the obtained results document a powerful effect of schooling on performance on the memory tasks. Non-schooled subjects generally have less success than schooled subjects on tasks such as paired-associate learning (Hall, 1972); free recall (Cole et al., 1971) and serial recall (Stevenson et al., 1978).The insightful series of memory experiments conducted by Cole and his colleagues (1971) with schooled and non-schooled (Cole et al., 1971) shed much light on how a key explanation for the difference in performance between the two groups lay in the use of organizational strategies. Non-schooled subjects were unlikely to engage spontaneously in strategies that provide greater organization to help remember the unrelated items that were presented in such tasks.

Cross-cultural studies have quite often reported schooling as an important factor in determining the level of performance on cognitive tasks. Rogoff (1981) has presented a detailed review of these studies. Mishra (2001) has examined selected studies carried out not only with schooled and unschooled subjects, but also with children attending schools of different quality and types (Mishra and Dasen, 2004).

Dash (1988) tested schooled (aged 6-8 and 10-12 years) and unschooled (aged 4-6, 6-8 and 10-12 years) boys for their ability to remember the location of pictures in a serial short-term recall tasks as a means of examining the influence of age and schooling on the development of structural features and control processes in memory. Short-term store, a structural aspect of memory as reflected in recency recall, remained invariant to either age or schooling, thus implying universality of structural memory. Age but not schooling contributed the development of control processes in memory (e.g. primacy effect) indicating that formal educational experience imparted through rural primary schools may not train children to employ active mnemonic strategies.

Mishra, Shukla and Mishra (1999) examined learning and memory in schooled and unschooled children, aged 7-12 years, controlling for the effect of socio-economic background. Using verbal learning tasks in a free recall procedure with unrelated, conceptually related, and phonetically related words, it has been demonstrated that the effects of schooling were age and task-specific. The overall recall and clustering scores of schooled children were higher than those of the unschooled, particularly on the conceptual task. However, these differences were less evident on the phonetic task.

Dash and Das (1984) examined the influence of schooling and age on the development of concrete operational thought and information processing. Four and six years old preschoolers and schooled children of 6-8 and 10-12 years, drawn from a relatively homogeneous socio-demographic background of rural India were given four tests of information – coding processes. Half of the children in each group were also given four Piagetian concrete operational tasks. As predicted, performance on Piagetian tasks increased as a function of age only, whereas the effects of schooling, age, and their interaction were clearly observed for coding processes. It was concluded that information processing modes were more sensitive to cognitive consequences of schooling than concrete operational skills.

Kurtz (1990) reported a study on memory performance and metamemory in 120 schooled and unschooled six and eight years old children in Nagpur, Maharastra. No difference was found on metamemory tasks, but on a serial rehearsal task. The

schooled children rehearsed more, which is consistent with the emphasis the Indian teachers were found to emphasize on rote memorization (Kurtz, Borkowski and Deshmukh, 1988). When trained to cluster and to rehearse, schooled children improved more on clustering, rehearsal and recall measures than did non-schooled children.

The problems of the present study have been formulated in the background of the results of the studies on the development of memory performance. The problems have been stated below in question forms:

1. The first and foremost question has been asked as the first problem of the study is that what amount and what pattern of recall of words occur at varying level of age i.e., 7+, 11+ and 14+ years?

2. The second question asked as the second problem of the study is what amount and what pattern of recall of words occur at increasing length of retention interval i.e., immediate, 1 day and 7 days?

3. Whether recall for words is influenced by the type of schooling i.e., advantaged and disadvantaged?

4. Whether any kind of interaction between the effects of age, retention interval and schooling occurs?

The hypotheses for the above stated problems can be made on the basis of the findings of the studies on the effect of age, retention interval and schooling on the memory performance.

1. In the background of the results of the studies on the development of cognitive processes showing facilitative effect of age on recall of words, it can be hypothesized that amount of recall of words should increase with increasing level of age.

2. It can be hypothesized on the basis of memory related studies that the amount of recall of words should decrease with increasing length of retention interval.

3. It can also be hypothesized that advantaged school should have a greater facilitative effect on the occurrence of the amount of recall of words than disadvantaged school on varying level of age.

4. Some kind of interaction should be found between the three factors i.e., age level, retention interval and type of schooling.

Method

Designe

The present study was conducted to investigate the effects of age, retention interval and type of schooling on memory performance. The present study was conducted in a 3x3x2 factorial design with three levels of age group (7+ years, 11+ years and 14+ years), three levels of retention interval (immediate, 1 day and 7 days) and two levels of type of schooling (advantaged and disadvantaged). Thus, there were 18 treatment conditions in total.

Sample

A total of 360 participants were randomly selected for the present study. Out of 360, 120 participants belonged to each of the three levels of age group i.e., 7+, 11+ and 14+ years. Forty participants out of 120 were randomly assigned to each of the three levels of retention interval i.e., immediate, 1 day and 7 days. Further 20, out of 40 participants belonged to each of the two levels of the type of schooling i.e., advantaged and disadvantaged school. The random selection of participants was done from various private English medium convent/public and government schools of Gorakhpur and Mau District. The schools which were considered to be advantaged had much greater facilities in their academic curriculum and extra curriculum (e.g., smart classes, computer education and enriched library) facility of promoting students in various types of games, indoor or outdoor. Contrary to it, the disadvantaged schools were considered to be lacking in these academic and extracurricular facilities. Thus, 20 participants were randomly assigned to each of the 18 treatment conditions.

Material

Ten words of common object each on a separate card were used as materials in the present study. Prior to the final use of the materials, a list of 30 common object-name (frequently used in any age group of participants) were to given to 18 participants belonging to each of the three levels of age group (7+, 11+ and 14+ years) in a pilot study in order to assess the association value and familiarity with the items of participants. In this pilot study subjects were asked to write down associations in terms of single words as many as they could write for each of the 30 items. For the items the numbers of associations ranging from 5 to 6 words in number were taken into consideration for further use in the study. Ten such words of common objects were finally selected for the present study.

Experimental Procedure

The study ran into two sessions – learning session and recall session. The participants were approached and contacted individually in their natural setting of schools. After the participants seated comfortably in a quiet and noise free room each of them were given instructions in Hindi and an approximate translation of that in English is as follows:

"Ten cards each containing a word which will be the name of a common object, will be presented before you one by one at the rate of 2 seconds per card. You are requested to see and read the word written on each of the ten cards. You may be requested to recall the 10 words in any order in future."

At the time when participants were reading the each of the 10 words written on 10 cards, the present investigator read the word aloud. Thus, the presentation of the material was visual and auditory both. After the learning session was over each of the participants of the present study were contacted again in the same setting they learned the original material, for recall. The participants were asked to recall the originally learned the 10 words in any order in verbal or written form. The participants of lower age group i.e., 7+ years of age group, in case could not write, gave responses in verbal form which were written by the present investigator. Each of the correctly recalled out of 10 words was given a score of 1 and the total number of correctly recalled words was the raw data of each of the participants, which was further subjected to various statistical treatments.

Analysis of Data

The raw scores of the data under varying conditions of age, retention interval and type of schooling were subjected to computation of means, SDs and ANOVA. Apart from these, mean values of recalled words under varying conditions were presented graphically to show the pattern of recall.

Results

The obtained data in terms of scores of recalled words were subjected to various statistical analyses. The mean and SD values of memory performance score for different age groups of participants under varying conditions of retention interval and type of schooling are presented in table 1. A perusal of the table 1 and figure 1 reveals that the mean values of memory performance scores increased consistently (i.e., Grand mean= 5.76, 7.43 and 9.01) with increasing level of age (i.e., 7+, 11+

and 14+ years). Table 1 and figure 2 shows that the mean value of memory performance score decreased (i.e., Grand mean= 8.08, 7.53, and 6.58) with increasing retention interval (i.e., immediate, 1 day and 7 days).

Table 1: Mean and SD Values of memory performance for different age group of participants under varying conditions of retention interval and type of schooling

Age level		Retention interval									Grand Mean/ Grand SD
		Immediate			1 day			7 days			
		Type of schooling			Type of schooling			Type of schooling			
		Advant-aged	Disad-vantaged	Total	Advant-aged	Disad-vantaged	Total	Advant-aged	Disad-vantaged	Total	
7+	M	7.50	6.40	6.95	6.75	5.05	5.90	4.85	4.00	4.43	5.76
	SD	1.10	1.19	1.25	1.41	1.05	1.50	1.09	1.21	1.22	1.68
11+	M	8.95	7.00	7.98	8.50	7.00	7.75	6.95	6.15	6.55	7.43
	SD	1.05	1.38	1.56	1.28	1.21	1.45	1.23	1.18	1.26	1.54
14+	M	9.50	9.15	9.33	9.05	8.85	8.95	8.90	8.60	8.75	9.01
	SD	0.76	0.81	0.79	0.94	0.99	0.95	1.02	1.05	1.03	0.96

	Immediate	1 day	7 days
Grand Mean	8.08	7.53	6.58
Grand SD	1.57	1.82	2.12

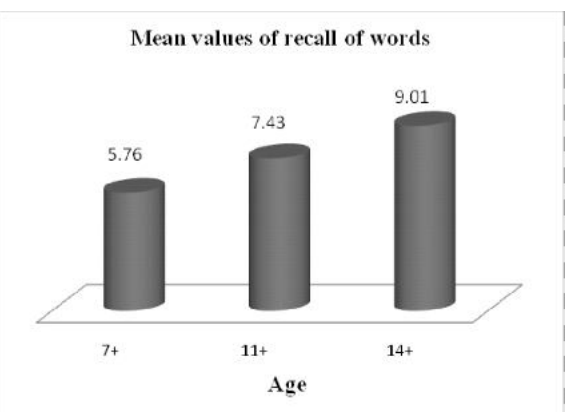

Figure 1: Mean values of memory performance under varying conditions of age level

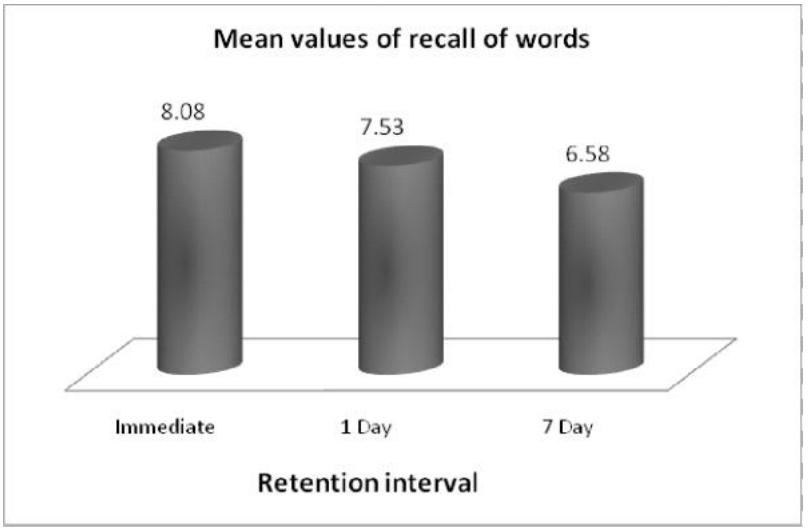

Figure 2: Mean values of memory performance under varying conditions of length of retention interval.

The mean and SD values of memory performance scores for different age groups of participants varying conditions of level of schooling are presented in table 2. Table 2 and figure 3 shows that the mean scores of the participants of advantaged schools (Grand mean= 7.88) are much greater than the participants of disadvantaged schools (Grand mean=6.91).

Table 2: Mean and SD Values of memory performance under varying conditions of age and type of schooling

Age level		**Type of schooling**		Grand Mean	Grand SD Value
		Advantaged	Disadvantaged		
7+	M	6.37	5.15	5.76	
	SD	1.64	1.51		1.68
11+	M	8.13	6.72	7.43	
	SD	1.46	1.30		1.55
14+	M	9.15	8.87	9.01	
	SD	0.94	0.96		0.95
Grand Mean/		7.88	6.91		
Grand SD		1.79	1.99		

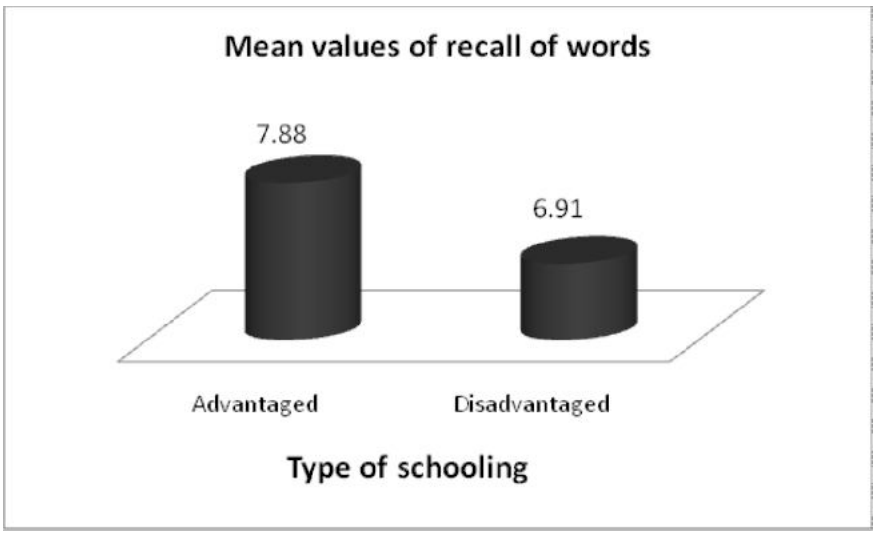

Figure 3: Mean values of memory performance under varying conditions of type of schooling.

A three way ANOVA was computed to show the effects of age level, retention interval and type of schooling on recall of words. The summary table of ANOVA (table 3) shows significant main effect of age level ($p<.01$), retention interval ($p<.01$) and type of schooling ($p<.01$) on recall of words. Apart from this, age x retention interval ($p<.01$) interaction effects were also found to be significant. The graphical presentation of age x retention interval interaction effect has been shown in figure 4. The figure shows that the participants of 14+ years of age groups have scored greater 9.33, 8.95 and 8.75 at all retention interval (immediate, 1 day and 7 days) than participants of 11+ years of age groups (7.98, 7.75 and 6.55) and participants of 7+ years of age groups (6.95, 5.90 and 4.43). However, the gap between the scores of recall of the participants of different age level is minimum at the shortest length of retention interval i.e., immediate and maximum at the longest retention interval that 7 days, whereas the gap is at the intermediate level at 1 day retention interval. Age x type of schooling ($P<.01$) interaction effect was found to be significant. A considerable gap between the scores two levels of type of schooling (advantaged and disadvantaged) at each of the levels of age (7+ years, 11+ years and 14+ years) can be observed. The participants of advantaged schools have obtained the mean values 6.37, 8.31 and 9.15 whereas participants of disadvantaged schools have obtained the mean values 5.15, 6.72 and 8.87 at 7+, 11+ and 14+ years of age group respectively. Mean values have also been displayed graphically in figure 5. It is apparent from the figure that as the years of schooling increase from 7+ years to 14+ years the gap between the recall

scores of the participants of advantaged and disadvantaged schools decreases and disappears at 14+years of age level.

Table 3: Summary table of ANOVA for memory performance as a function of age level, retention interval and type of schooling.

Source	Sum of Square	df	Mean Square	f
Age	633.89	2	316.94	251.99**
Retention interval	139.84	2	69.92	55.59**
Type of schooling	85.07	1	85.07	67.64**
Age x Retention interval	42.64	4	10.66	8.48**
Age x Type of schooling	21.96	2	10.98	8.73**
Retention interval x Type of schooling	4.67	2	2.34	1.86
Age x Retention interval x Type of schooling	5.98	4	1.49	1.19
Error	430.15	342	1.26	
Corrected Total	1364.20	359		

** .01, * .05

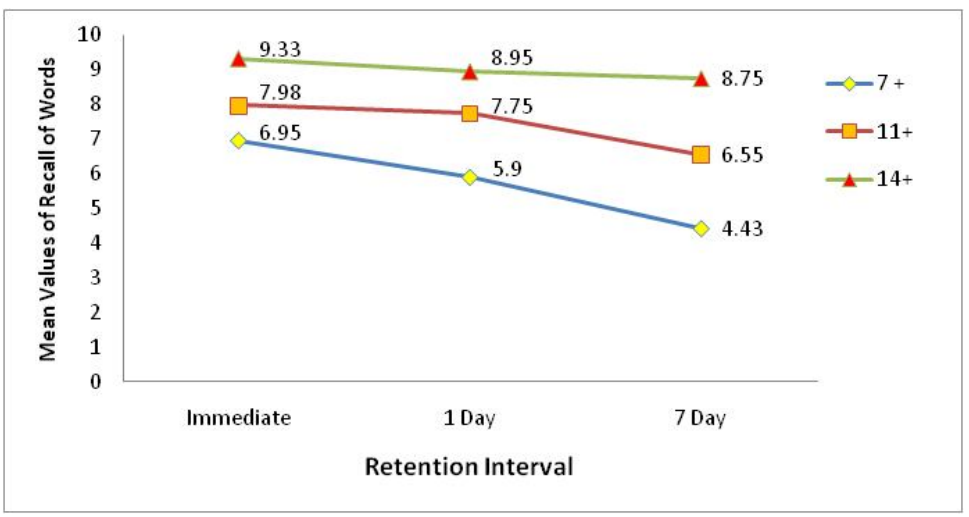

Figure 4: Mean values of memory performance under varying conditions of age and retention interval.

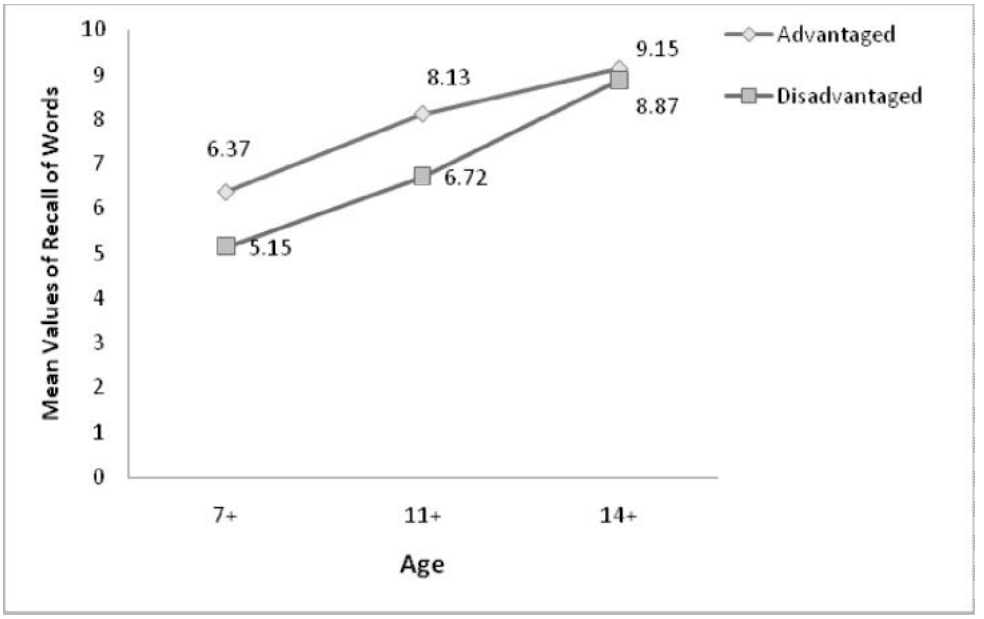

Figure 5: Mean values of memory performance under varying conditions of age and type of schooling.

Discussion

The results of the present study are indicative of the fact that memory performance increase with increasing level of age from 7+ years to 14+ years (Scheinder&Bjorklund, 1998; kail, 1992). The material used in the present study was most easy and similarly meaningful to all levels of age. The one possible explanation for such results might be that number and variety of memory strategies used by participants of higher age levels might facilitate their recall for words(Schneider & Pressley, 1997). As usual the findings of the present study are supportive to the general findings of memory studies that memory performance decreases with increasing length of retention interval. A variety of academic and extra-curricular activities of advantaged schools have facilitative effects on memory performance in specific and cognitive process in general (Rogoff, 1981; Cole et al., 1971; Cole and Scribner, 1977; Mishra, Shukla and Mishra, 1999; Mishra, 2001 &Dash and Das, 1984).

The results of the study also suggest that the effects of age and retention interval on recall for words are not independent. The gap between the recall scores of the participants belonging to varying age level is minimum at the shortest retention

interval i.e., immediate and maximum at longest retention interval i.e., 7 days. It will not be unreasonable to assume that age related factors operative on memory are more visible at higher age levels. The interaction effect of type of schooling and age indicates that as the years of schooling increase that impact of type of schooling disappear.

References

Cole, M., Gay, J., Glick, J. A., & Sharp, D. W. (1971).The cultural context of learning and thinking. New York: Basic Books.

Dash, U. N. (1988). Influence of age and schooling on memory. Indian Psychologist, 5, 15-20.

Dash, U. N., & Das, J. P. (1984).Development of concrete operational thought and information coding in schooled and unschooled children. British Journal of Developmental Psychology, 2, 63-72.

Hall, J. W. (1972). Verbal behavior as a function of amount of schooling.American journal of Psychology, 85, 277-289.

Kail, R. (1992).Development of memory in children. In L. R. Squire (Ed.), *Encyclopedia of learning and memory* (pp. 99-102). New York: Macmillian.

Kail, R. (1997b). Processing time, imagery, & spatial memory *Journal of Experimental Child psychology*, 64, 67-78.

Kurtz, B. E. (1990). Cultural influences on children's cognitive and meta-cognitive development. In W. Schneider & F. E. Weinert (Eds.), Interactions among aptitudes, strategies, and knowledge in cognitive performance (pp. 177-199). Berlin: Springer.

Kurtz, B. E., Borkowski, J. G., &Deshmukh, K. (1988).Metamemory development in Maharashtrian children: Influences from home and school. Journal of Genetic Psychology, 149, 363-376.

Laboratory of Comparative Human Cognition (1979).Cross-cultural psychology's challenges to our ideas of children and development. American Psychologist, 34, 827-833.

Laboratory of Comparative Human Cognition (1983).Culture and cognitive development.In Handbook of child psychology, P. H. Mussen (Ed.), Vol.I of History, theory and methods, W. Kessen (Ed.). New York: Wiley.

Mishra, R. C. (2001). Cognition across cultures.In D. Matsumoto (Ed.), Hand-book of culture and psychology (pp. 119-135). New York: Oxford.

Mishra, R. C., &Dasen, P. R. (2004). The influence of schooling on cognitive development: A review of research in India. In B. N. Setiadi, A. Supratiknya, W. J. Lonner, & Y. H. Porting (Eds.), Ongoing themes in psychology and culture (Online Ed.). Melbourne, FL: International Association for Cross-Cultural Psychology.

Mishra, R. C., Shukla, S. N., & Mishra, A. (1999).Development of recall memory for conceptually and phonetically related words in the context of schooling. Social Science International, 15, 14-25.

Myers, N. A., &Perlmutter, M. (1978).Memory in the years from two to five. In P. A. Ornstein

(Ed.), *Memory development in children* (pp. 191-218). Hillsdale,
NJ : Erlbaum.

Piaget, J. (1950). The psychology of intelligence. New York: International Universities Press.

Piaget, J. (1952b). The origins of intelligence in children. New York: International Universities Press. (Original work published 1936)

Rogoff, B. (1981). Schooling and the development of cognitive skills. In H. C. Triandis& A. Heron (Eds.), Handbook of cross-cultural psychology (Vol. 4,pp. 233-294). Boston, MA: Allyn& Bacon.

Rogoff, B., &Mistry, J. (1985).Memory development in cultural context.In M. Pressley & C. Brained (Eds.), Cognitive learning and memory in children, (pp. 117-142). New York: Springer- Verlag.

Schneider, W., &Bjorklund, D. F. (1998).Memory.In D. Kuhn & R. S. Siegler (Eds.), Handbook of child psychology (5th ed., Vol. II, pp. 467-521). New York: Wiley.

Schneider, W., & Pressley, M. (1997).Memory development between 2 and 20. Hillsdale, NJ: Lawrence Erlbaum Associates.

Sharp, D., Cole, M., & Lave, C. (1979). Education and cognitive development: The evidence from experimental research. Monographs of the Society for Research in Child Development, 44, 1-2, no. 178.

Stevenson, H. W., Parker, T., Wilkinson, A., Bonnevaux, B., & Gonzalez, M. (1978). Schooling, environment, and cognitive development: A cross-cultural study. Monographs of the society for research in child development, 43, 3, no. 175.

Theorising Bhojpuri Literature-some Context (With special reference to Bhikhari Thakur)

Shafique Ahmed* & Sandeep Rai**

Tradition of folk literature dates back to the early stages of human evolution. It is believed that the origin of language is very symbolic. History has witnessed its contradiction vis a vis dominant and dominated masses for the welfare of the people. Dr Vasudevshran Agrawal has opined in *'prithvi putra'* that, there is a need to rework on the works of Vyas, Valmiki, Kalidas, Tulsidas, Charakandpanini from the point of view of *"janapadas"*. Folk languages and dialects are mother tongues of the masses. We cannot afford to ignore the importance of folk languages, dialects in the name of nation building, progress and general unity. Dialects do not hinder the progress of Hindi they rather support it in its progress and themselves flow as tributaries. The contemporary studies of such dialects should be seen with reference to the disciplines of art, history, sociology and culture. Folk literature should be analysed diachronically keeping in mind the socio-cultural background of the author herself/himself. Rahul Sankrityayan says that Janpada dialects are the live languages of hard-working peasants and labourers. The synthesis of folk literature is still going on among them. They (villagers) are producing folk literature even today. Bhikhari Thakur is one such most important literary figure who has contributed significantly to bhojpuri literature. Rahul Sankrityayan posits," *why do people like Bhikhari Thakur's literature? Why does the number of audiences for his plays reach ten to fifteen thousand on an average? It is seen that people exhibit lot of interest in Thakur's plays and poetry, which renders them more poetic justice. It is evident that indigenous spiritual writers like Kabeer, Meera, Soordas and Tulsidas have gained more popularity among masses with the incorporation of various contemporary social problems in his plays, Bhikhari Thakur came very close to the masses and gained immense popularity*". (Tayyab Hussain Peedit, 2014).

This paper is a review of various theories that have addressed the relationship

*Associate Professor, Department of Sociology, D.D.U. Gorakhpur University, Gorakhpur
**Research Scholar, Department of Sociology, D.D.U. Gorakhpur University, Gorakhpur

between literature and society. As mentioned, some of the conceptions have argued for a complex interaction between literature and social life, commenting on the value-neutrality and apolitical stances of understanding the generation of a text. While others have shown how literature, although always politically engaged, deals with the prevalent social and political oppressions and have become a source of aesthetic enterprise. Accordingly, in this paper we can review the work of those scholars who have looked at literature either as a political enterprise, reflecting the dominant values and ideas of a society or of those authors who have although, acknowledged the political undertones of literature and its resistance potential, also view them as aesthetic endeavour.

Among those who have addressed the above questions, this study takes account of the writing of Marx and Engels (iQ38, 1970, 1979), Terry Eagleton 1976),George Lukacs (1972),Louis Althusser (1977),Lucien Goldmann *'97"),*Antonio Gramsci (1977),Pierre Bourdieu (1993 and 1996),Pierre Macherey (1966 and 1995),Alok Rai (2000),K. Updhyaya (1972),Om Prakash Valmiki (2003). Through this debate, we see that, the priorities of these different authors of Marxist literary theory are starkly and fundamentally different. Usually these distinctions are based upon how they understand a text, a genre or even the intentionality of the writer.

Literature as reflecting false consciousness: *Marx and Engels*

In talking about the reflective nature of literature, Marx and Engels have responded to the social conditions stemming from the rise of capitalism. Their theories are therefore, formulated specifically to analyze how society functions in a state of upheaval and constant change. The comments of Marx and Engels' on art and literature are scattered and fragmentary. While other art forms find a scarce mention in their work, their analysis of literature (including the text of dramas) have significantly shaped and dominated their ideas about aesthetics and culture in general.

Marx's theory of literature is based upon what he termed as, *historical materialism,* a view that explains the course of society as guided by economic development, changes in the modes of production and exchange, by the consequent division of society into distinct and antagonistic classes and by the struggle of these classes against each other. Marx proposed a model of history in which economic and political conditions determine social conditions.

According to Eagleton, 'Marxist criticism' analyses literature in terms of the historical conditions, which produce it. For Eagleton, 'Marxist criticism' is part of a

larger body of theoretical analysis, which aims to understand *ideologies,'* the ideas, values and feelings by which men and women experience their societies at various times. Some of those ideas, values and feelings are available to us only in literature. To understand ideologies is thus, to understand both the past and the present more deeply. This is one of the reasons why 'Marxist criticism' involves more than what has been set out by the founders of Marxism.

Eagleton says that 'Marxist criticism' is not merely concerned with 'Sociology of Literature', but how novels get published and how they mention the working class. Its aim is to explain[8] the literary work more, fully which means a sensitive attention to its forms, styles and meanings (Eagleton, 1976, p 3). Accordingly, within the Marxist frame of thought, literature like all other trends and developments in the modern world can be conceived not merely as cultural or ideological, but also strongly social and political. Marxist literary theory has thus emphasized the political in literature.

Within Marx's account of history is the idea that larger political and economic forces determine a given individual's social being. Marx writes that 'it is not the consciousness of men that determines their being, but, on the contrary, their social being that determines consciousness' (Ibid). In the same nerve, Marx puts forward his concepts of the base and superstructure. The base is the economic system on which the superstructure rests; cultural activities-such as philosophy or literature-belong in the superstructure. The clear implication of what the 'base' and 'superstructure' is found in the preface "To a *Contribution to the Critique of Political Economy"*, (Marx and Engels, 1859). Much non- Marxist criticism would reject a term like 'explanation', feeling that it violates the "*mystery*' of literature. Eagleton uses it here because he agrees with Pierre Macherey who in his A Theory of Literary Production (Paris, 1966), argues that the task of the critic is not to '*interpret*' but to explain'. For Macherey, '*interpretation*' of a text means revising or correcting it in accordance with some ideal norm of what it should be; it consists, that is to say, in refusing the text as it is. Interpretative criticism merely changes the meaning of the text for easier consumption. In saying more about the work, it succeeds saying less. Men enter into definite relations that are indispensable and independent of their will, *relations of production* that correspond to a definite stage of development of their material productive *forces*. The sum total of these relations of production constitutes the economic structure of society, the real foundation, on which raises the legal and political superstructure and to which correspond definite forms of social

consciousness. The mode of production of material life conditions the social, political and intellectual life process in general. It is not the consciousness of men that determines their being, but on the contrary, their social being that determines their consciousness.

Art then, becomes the part of the superstructure of the society. To understand literature then means understanding the total social process of which it is a part. As the Russian Marxist critic Gregory Plekhanov put it, '*the social mentality of an age is conditioned by that age's social relations* (Henri Arvon's *Marxist Aesthetics,* Cornell, 1970). Marx believes that because the base determines the superstructure, it inevitably supports the ideologies of the base.

Marxists also addressed the problems of the relationship between art and reality in a fundamentally new way, based on materialist dialectics. Idealist aesthetics considered art as a reproduction of the ideal, standing over and above actual reality. Marxists consider it impossible to understand art and literature proceedings only from their internal laws of development. In their opinion, the essence, origin, development and social role of art can only be understood through analysis of the social system as a whole, within which the economic factor- the development of productive forces in complex interaction with the social life production relations - plays the decisive role.

Thus, art as defined by Marxists is one of the forms of social consciousness and it therefore, follows that the reasons for its changes should be sought in the social existence of men and women. Marxists give a social explanation of the origin of the aesthetic sense itself. They argue that man's artistic abilities, his capacity for perceiving the world aesthetically, to comprehending its beauty and for creating works of art appear as a result, of the long development of human society and are a product of man's labour. In his *Economic and Philosophic Manuscripts of 1844,* Marx pointed to the role of labor in the development of man's capacity to perceive and reproduce the beautiful and to form objects 'in accordance with the laws of beauty' (Marx and Engels, *collected Works,* Vol. 3, Moscow, 1975, p. 277). This idea was later developed by Engels in his work *Dialectics of Nature,*in which he noted that efforts of toil 'have given the human hand the high degree of perfection required to conjure into being the pictures of a Raphael, the statues of a Thorwaldsen, the music of a Paganini' (Quoted in Marx and Engels *On Literature and Art,* pp.128-29).

George Lukacs

Since Marx's own writing, there have been theorists such as Lukacs and Althusser who have gradually modified or expanded on Marx's original concepts. Lukacs had argued that only realistic forms of fiction are artistically and politically valid. Lukacs, who was writing within the realm of Soviet Socialism, had looked at how 'the commitment of the writer in the forefront emphasized her/his role in the making of a just and equitable environment' (Lukacs,1972). His essay *'Critical Realism and Socialist Realism'* (1972) is a good example of a polemic held within socialism. This polemic is between critical realism and socialist realism as literary principles on the one hand and between the theory of socialist realism and its practice on the other. Lukacs said that the perspective of critical realism renders great help to the writer to understand the present but it would not enable the writer to conceive the future from inside. This was Lukacs' emphasis. For him, critical realism was thus an objective as for any writer the present offers the entry point into history. This becomes the guiding force, which empowers the writer to interpret his or her own reality. On the other hand, the writer of socialist realism is a natural insider and thus no entry point is required of him because he or she is a participant in the making of a different future.

Lukacs's essay gives an indication as to why the tradition of critical realism gradually weakened in the latter half of the 19th century when writers found it difficult to pursue realism, they had to draw on all their inner resources to do justice to their job as writers and as significant voices of their time. This was the background of the bourgeois-capitalist class becoming reactionary. This situation led to the emergence of socialist realism that stressed classlessness as a precondition for real, genuine equality in society.

The problem of sociology of the novel has always preoccupied the sociologist of literature. A novel is also, considered as a biography and a social chronicle and thus it can be said here that the social chronicle reflects to a greater or lesser degree the society of the period. The emphasis in the novel is not the explanation of but a focus on the problem. There is a clear relationship between the literary plane and the everyday life in the society created by liberal economic principles and market production. Lukacs makes this point and says that there is a homology between everyday relations of man and commodities. This relationship extends between men and other men in a market society. Charles Dickens' second novel, *Oliver Twist* (1838), can be considered as an example of a social novel. Social novels centre

around the effects of social and economic conditions on the individual, and often aim to bring societal attention to social problems. Such pieces of literature clearly reveal the relationship between the literary plane and the everyday life in the society created by liberal economic principles and market production. Accordingly, it is now possible to move on to a review of literature that delves upon this possibility art as escaping the premises of dominant ideas.

Literature as breaking away from false consciousness: *Lucien Goldmann*

Goldmann in his work *'Towards a Sociology of the Novel'* takes off from Lukacs. Goldmann's hypothesis is concerned with the homology between the structure of the classical novel and the structure of exchange in the liberal economy. Since the exchange in liberal economy is based on the principles of free market capitalist economic system, any work of literature has a possibility to reflect the values of the same economic system. On the other hand, there is also the possibility of the novel to not represent the hegemonic values. Goldmann presents a means to go beyond the actual fictional descriptions of sociological phenomena in order to connect the structure of the literary work itself, not to the writer or the consumer, but to the external world. Goldmann's perspective seeks to elucidate structures within a work that may be explained in terms of homologies between these structures and the collective mental structures or categories that shape the consciousness of social groups during a specific time, as well as shaping the imaginary world created by a writer.

One implication of Goldmann's approach is that a writer's work expresses the non-conscious values and aspirations of a collective category, thus the internal structural analysis reveals expressions that are beyond the author's conscious intent. Griswold (1987a) recently expanded Goldmann's scheme to provide a more complete explanation of cultural objects that includes aspects of the writer's intentions and of the work's reception as well as additional cultural circumstances.

Antonio Gramnsci

The Italian theorist Gramsci, with his concept of hegemony, allows for an even more flexible reading of the base/superstructure model. Gramsci believes that ideology alone cannot explain the extent to which people are willing to accept dominant values. He also realizes, along with many other Marxist critics that the base/superstructure model is much too rigid to account for cultural productions, which do not simply reinforce those dominant values.

In a way, Gramsci's notion of hegemony is a continuation of the concepts

behind ideology. Hegemony is a sort of deception in which the individual forgets his/her own desires and accepts dominant values as ones own. For example, someone might think that going to college is the right and necessary step in every life, when in reality ones belief is socially constructed. This is again one of the several views on the social construction of reality. Thus, on the basis of the above argument, it becomes difficult to generalize how different people engage themselves in making different meanings. Literature, then, may be seen as something that both reinforces dominant values and occasionally calls them into question. For example, nineteenth century women writers of sentimental fiction used certain narrative conventions merely to reinforce dominant values, whereas a writer like Jane Austen used many of the same conventions to undermine the same dominant values.

Louis Althusser

This French Marxist theorist provides a finer understanding of the relationship between literature and ideology. According to Althusser, art cannot be reduced to ideology. Rather, art has a certain *relationship* to ideology. Ideology signifies the imaginary ways in which men experience the real world. Literature too gives us this kind of an experience. However, art does more than just passively reflecting the experience. Thus, while Art is held within ideology, it also manages to distance itself from it. This distancing is done to the point where, art permits us to 'feel' and 'perceive' the ideology from which it springs. The difference between science and art is that science gives us conceptual knowledge of a situation; art gives us the experience of that situation, which is equivalent to ideology. By doing this art, allows us to 'see' the nature of that ideology and in the process, moves us towards that full understanding of ideology which is scientific knowledge. (Althusser, L. 1977)

Pierre Macherey

Macherey in his *Theory of Literary Production* (1966 distinguishes between what he calls 'illusion' (meaning false consciousness) and 'fiction'. Illusion is the material on which the writer goes to work. While working on it, the writer lends it a certain shape and structure thereby transforming it into something different. It is by giving ideology a determinate form, fixing it within certain fictional limits, that art is able to distance itself from it, thus revealing to us the limits of that ideology. In doing so, according to Macherey, art contributes to our 'deliverance from the ideological illusion'.

Contending the traditional hermeneutic approach, which perceives literature

to be a site of 'essential revelation' and which therefore, assumes philosophy to be the unthought-of or not yet thought element in literature, Macherey, in his *Object of Literature (1995)* instead perceives literature to carry within itself the seed of philosophy. Literature thus according to Macherey is not simple primal truth. He tries to express in this book literature's speculative vocation by arguing that literature 'has an authentic value as an intellectual experience...' Here he explains this further by talking about a 'literary philosophy' (1995: 5).

What one can establish out of this is the plain fact that there is no pure discourse. The attempt to delineate philosophy from Literature is an artificial one contextualized in a particular era of History, which launched the two as two autonomous paradigms, 'Modern paradigms' as Macherey says (1995:5). The difference between literature and Philosophy thus being 'documentary' (1995:6) in nature, Macherey urges the reader to not ignore or overlook the speculative, the thought, the insight, the foresight, the premonition, the intuition and the mass of knowledge deeply inherent within any literary work. The literary works do not thus merely produce or reproduce a narrative of the society or a description of events. A closer look, a deeper plunge will show that literature actually provides a support to an 'ideological communication' (Macherey, 1995).

Pierre Bourdieu

Pierre Bourdieu's (In *The Field of Cultural Production: Essays on Art and Literature,* Boudieu, P. 1993. Polity Press, Cambridge) analytical method represents a useful alternative to many other eminent modes of analysis ranging from *formalism* to *structuralism* and *deconstruction,* which have dominated literary studies.

Bourdieu dissects the relationship between systems of thought, social institutions and different forms of material and symbolic power. By emphasizing on the structure of power of different kinds, he says that the literature, art and their respective producers do not exist independently of a complex institutional framework, which authorizes, enables, empowers and legitimizes them. He has focused on the framework of the structure of power and says that this must be incorporated into any analysis of cultural practices (Bourdieu, 1993).

Bourdieu locates the literary field in the field of power. Similarly, the Bhojpuri literary field can also be analysed on the same principal and its encounters with the internal social structure i.e. caste system, patriarchy and feudalism, which constitute the field of power in this context. This particular aspect would be dealt in detail in

the later part of this paper. The scholar also takes issue with 'reflection theories', with supposed homologies between the structure of work and the social structure or between the works and the worldview of social interests of a specific class. To suggest, in the manner of Lukacs and Goldmann, the writer is somehow an unconscious spokesman, for a group is for Bourdieu, simply to invert the romantic myth of the poet. Reducing the power to a sort of 'medium', this approach assumes a perfect correlation between the group and the mode of expression without questioning how one defines the group whose world view is supposedly expressed through the work structure (Bourdieu, 1993, p. 13).

According to Bourdieu, by conceiving of literary works as expressions not of the author but rather of the social class of which he or she is a member. By seeing the author as merely one who lends coherence to the structure of his or her class and by positing works as collective products of social groups, such approaches also ignore the objective conditions of the production, circulation and consumption of symbolic goods. They thus, fall prey to the objectivism, which Bourdieu finds unacceptable in structural analysis. Artistic works in Bourdieu's view are produced by agents existing in objective sets of social relations, which are not limited to those of 'class' and which fulfill specific functions for those agents which must be brought into the analysis.

Reflection theories, no matter how elaborate, often neglect the relative autonomy of the literary field. This problem is addressed in Mikhail Bakhtin, work who suggests that literature is part of, and cannot be understood outside of the '*total context*' of a given period's culture. Social and economic factors clearly affect literature but only through their effect on culture as a whole. Their impact on literature per se, occurs only through the mediation of the entire culture (Bakhtin.M. Speech. Genres and other late Essays. Austin: University of Texas Press, 1984, p.2). To counter what he calls the 'short-circuit effect' of approach that posit a direct connection between art and social structure, Bourdieu developed the theory of the field as a social universe with its own laws of functioning (Bourdieu, 1993).

Finally, Bourdieu criticises the failure of external analysis to consider works of art as possessing a specific language. This does not mean that he accepts the formalist contention that literary language alone can provide an adequate explanation of literature or literary practices. To summarize briefly Bourdieu's method attempts to incorporate three levels of social reality. 1. The position of literary or the artistic filed; what he calls the *field of power,*(i.e. the set of dominant power relations in

society or, in other words, the ruling classes); (2) the structure of the literary field (i.e. the structure of the objective positions occupied by agents competing for legitimacy in the field as well as the objective characteristics of the agents themselves); and (3) the genesis of the producers' habitus (i.e. the structured and structuring dispositions which generate practices) (Bourdieu 1993).

Bourdieu's method can thus be used to analyse the literary field of the literature. He says that a number of practices and representations of artists and writers can be explained with reference to the field of power, inside which the literary field is itself in a dominated position. The field of power is the space of relations of force between agents or between institutions having in common the possession of the capital necessary to occupy the dominant positions in different fields, mainly economic or cultural. It is the site of struggles between holders of different powers or kinds of capital, like the individuals and the class.

In the context of languages, a contradiction takes place between Hindi and Bhojpuri. What Bourdieu calls the 'economic value', was definitely higher for the Hindi language. This is evident through the scenario of the year 1900, when, 'Sir Anthony MacDonnell, Lieutenant Governor of the North West provinces and Oudh, initiated a move to allow Devanagri to be used in the courts, inaugurating a long conflict over language and script. This move was presaged by a longer history of colonial interventions that sought to distinguish between a Hindu Hindustani and an Urdu Hindustani' (Rai, 2000, pVIII). From this, we can discern the manner in which regional dialects such as Bhojpuri got marginalized in the broader context of a literary field (Singh 1991). While Hindi achieved the status of an official language, Bhojpuri was not awarded any recognition by the state. Inspite of such discount by the state, Bhojpuri has managed to evolve as an alluring language for the production of literary work.

According to Bourdieu, the principle of change in works resides in the field of cultural production. Any piece of literature or art either functions as one perpetuating the current conventions, i.e. maintaining the status-quo, or one subverting them and transforming the structure and also the structure of distribution of capital, power, etc. (Bourdieu,1996)

To understand the politics of any language or dialect, there is a need to look at its history. To quote Rai, 'historically speaking, Hindi has been understood, defined and projected through a series of antithesis with Urdu; with its 'dialects', notably, *Braj*, with 'provincial' languages; with English. It is sufficient to remark that, in all

these antitheses, with their countless local eruptions, there is a curious eruption of innocence and inviolability on the part of Hindi and its protagonists' (Rai, 2005, p.5). However, it can also be mentioned that the popularity of Hindi is not an outcome of government efforts but of the love of the people enshrined in institutions such as Bollywood. The point that I want to draw from Rai's argument is that Hindi, as an official language of the state has dominated its dialects, in particular, Bhojpuri. Bhojpuri is still not included in the *14th schedule of the Constitution of India.*

If one goes into the history of languages, Bhojpuri is an older language than Hindi. The Bhojpuri language has a tremendous amount of writings at its disposal (Upadhyay, 1972). In contextualising Bhojpuri literature in the general literary field, one can also clearly locate Macherey's stand in the position. I take to show that indeed literature has a bearing on Social Movements. Literature in fact, is in itself a silent revolution. For example, one can mention Om Prakash Valmiki's 'Joothan-An Untouchable's Life' (2003), where the author asserts the identity of a Dalit and gives and account of the hardships faced in the post independent Indian society. Although untouchability was legally abolished in the constitution of the newly independent India in 1949, Dalits continued to face discrimination, economic deprivation, violence, and ridicule. Traditionally, Indian literatures have either ignored untouchables or portrayed them as victims in need of saviors, as objects without voice or agency. Valmiki, through his autobiographical work, has presented an authentic recording of these unrepresented experiences and in the process given voice to the voiceless. He tells the stories of life in the untouchable caste of Chuhra, at the bottom rung of society; his laudable struggle to survive this doomed life of perpetual physical and mental prejudice and intolerance; the obstacles he overcame to become the first high school graduate of his neighborhood; his coming to consciousness under the influence of the great Dalit political leader B. R. Ambedkar; and his transformation into a speaking subject bearing witness to the oppression and exploitation that he endured as an individual and as a member of a stigmatized and subjugated community.

'Dalits today constitute about one sixth of India's population. Spread over the entire country, speaking many languages, and belonging to many religions, they have become a major political force. As a document of the long silenced and long denied sufferings of the Dalits, *Joothan* is not only a contribution to the archives of Dalit history, but a manifesto for the revolutionary transformation of society and human consciousness'(Mukherjee, 2003). The potential of political consciousness that Valmiki demonstrates through his piece of literature needs to be qualified by

more sociological investigation. However, there is no denying the important contribution he makes to the Dalit cause by highlighting their problems and miseries. Valmiki, I feel is speaking with in the ambit of ideology as an amalgamation of ideas in accordance to the particular context.

Concluding Remarks

In the contemporary context, Marxist literary criticism has been forced to re-examine its standpoints to evolve an adequate method to cope with these developments. Whereas between the wars, it was the capitalist camp striving to counter the people- oriented socialist thrust in literature. Under such circumstances, Marxist literary theory has turned towards examining a work of art in its specificity. The effort has mainly crystallized as investigation in the forms of literature hitherto, discussion on form, revolved around the idea of human creativity finding new ways to express itself in specific periods of history- epic in ancient times, dramas in periods of transformation from one epoch to another, novel when much later in the 18th century a new powerful social class met the challenge of earning legitimacy and consolidation. This was too broad a perspective. The difficulty particularly was that it interpreted forms in Literature in generic terms- epic, drama, novel etc. as separate kinds of writing in different epochs. It appears necessary now to study the cultural processes in which a particular kind of creative approach takes shape (Ibid).

In this way, we see that the dominant Marxist theories do not always see literature as something dependent solely on hegemonic values and ideas. There are moments where one can find a treatment of literature which is not reducible to merely ideologies or false consciousness. We can see in the above argument how literature is engaged with the social and political. There is a need to look at the 'social and political as a source of aesthetic enterprise. According to Eagleton (1976), the relationship, which both Althusser and Macherey propose between ideology and literature, is 'deeply suggestive' (p 19). Ideology for both Althusser and Macherey has a certain structural coherence in any society. It is not a mere body of free-floating images. Thus, because it possesses relative coherence, ideology can be the object of scientific analysis; and since literary texts 'belong' to the domain of ideology, they too can become the object of such scientific analysis. A scientific criticism would seek to explain the literary work in terms of the ideological structure of which it is part, yet which it transforms in its art: it would search out the principle, which both, ties the work to ideology and distances it from it.

As Engels himself, pointed out: Literature may be a part of the superstructure,

but it is not merely the reflection of the economic base. According to F. Engels, "the materialist conception of history, the determining element in history is *ultimately* the production and reproduction in real life. More than this neither Marx nor I have ever asserted. If therefore somebody twists this into the statement that the economic element is the only determining one, he transforms it into a meaningless, abstract and absurd phrase. The economic situation is the basis, but the various elements of the superstructure- political forms of the class struggles and its consequences; constitutions established by the victorious class after a successful battle, etc. Forms of law and then even the reflexes of all these actual struggles in the brains of the combatants: political, legal, and philosophical theories, religious ideas and their further development into systems of dogma also exercise their influence upon the course of the historical struggles and in many cases preponderate in determining their form" (Eagleton, 1976, p 9).

If we try to uncover the relationship between literature and false consciousness, we usually find that there are two possible positions. The first one is that literature reflects a certain kind of false consciousness, which is generally the ideology of the dominant or the dominant ideology. On the other hand, we also find a different kind of literature, which reflects certain expressions of the false consciousness, which is against the dominant ideology and in a sense challenges the dominant ideology. The Marxist view based on the Conflict Model, would perceive this literature as reflections of the dominant ideology. On the basis of the above mentioned theoretical background, there is a need to examine the following questions, with specific reference to select Bhojpuri Literature:

(a) What are the main social themes reflected in such Bhojpuri Literature?

(b) What kind of analysis and action is advocated by such literature?

(c) Upto what extent is this literature a social product?

(d) In what ways do these works serve as propaganda for the status quo; or does it try to undermine it?

References:

1. Bourdieu, P.1993, *The Field of Cultural Production: Essays on Art and Literature.* Cambridge: Polity Press.
2. Bourdieu, P. 1996, *The Rules of Art; Genesis and Structure of the Literary Field,* California: Stanford University Press.
3. Eagleton, T. 1976. *Raymond Williams' Important Work*, New Left Review, Jan-Feb 1976. 95.

4. Gramsci, A. 1977, *Selections From Political Writings, 1910-* 1926, London, Lawrence and Wishart.
5. Goldmann, L. 1975. *Towards Sociology of the Novel.* London,Tavistock Publications Ltd.
6. Kant, I.1900, *Critique of Pure Reason.* New York: Colonial Press. Lukacs, G. 1972. *Political Writings 1919-1929* London.
7. NLB. Macherey, P. 1989. *Theory of Literary Productio,* London: Routledge.
8. Macherey, P. 1995. *The object of Literature,* Cambridge: Cambridge University Press.
9. Marx, K. and Engels, F. 1938. *German Ideolog,* London: Lawrence and Wishart.
10. Marx, K. and Engels, F. 1970, *Communist Manifesto.* Harmondsworth, Penguin.
11. Marx, K. and Engels, F. 1978. On *Literature and Art,* Moscow: Progressive Publication House.
12. Marx, K. 1979. A *contribution to the Critique of Political Economy.* London, International Publishers.
13. Pandey, G. 1983. *Jagtey Raho Sone Walon.* Delhi, Radhakrishna Prakashan.
14. Pandey, M. 2006. *Sahitya Ke Samajshastra Ki Bhoomiha.* Delhi, Goyal Enterprises.
15. Peedit. T H. 2014. Bhikhari Thakur. New Delhi, Sahitya Akademy.
16. Rai, A. 2000. *Hindi Nationalism.* Delhi, Orient Longman.
17. Upadhyay, K. 1972. *Bhojpuri Sahitya ka Itihas.* Varanasi, Indian Folk Culture Research Institute.
18. Valmiki, O.P. 2003. *Joothan-An Untouchable's Life.* Columbia, Columbia University Press.

The Thai Family Pattern

Moti Lal Ram*

Thailand has a border with Burma, Laos, Cambodia, Malayasia and has been very closely related to India by religion, trade and culture. Some 90 percent of Thai are Buddhist. The original home of the Thais was in Southern China. They had come in contact with Hindu civilization through missionaries and later Buddhism penetrated from India to Ceylone and Burma. Siam (Thailand) had accepted Hinduism before Buddhism. The Brahmana priest is still revered and many court functions are done by both Hindu and Buddhist priests.

The typical Thai family is basically self sufficient and they live above the margin of subsistence. They dress well and eat well. They do not as a rule save making merit is an item in the family budget. The average Thai woman is cotented and family bound. The Thai girls are brought up in a very natural way.

The Thais give a lot of deference to teachers, elders, monks and to the royalty. In Thailand especially according to the village culture, if a girl submits to a premarital encounter she looses more than her virginity. It means a gossip and ruined reputation and then no other boy may want to marry her. The girls are also under supernatural admonishment from their matrilineal ancestors to remain chaste until married.

The prevailing norm and belief in the village is that if a girl has lost her virginity then she must inform her mother, so that she make appropriate offerings to the lineage spirits and beg for heir forgiveness, otherwise a member of her family will become very ill, most likely the mother herself. Many of these values and norms are stressed as part of the early socialization of young girls with an objective to instil fear in them to avoid prematital sex. For a girl to engage in premarital sex is phidphil a transgression against the spirits.[1]

Matrilineage is defined as a group of related households which trace their common descent through the matriline - through females only to a group of sisters

*Post-Doctoral Fellow, of the Magadh University, Bodhgaya (Bihar)

who had lived three to eight generations ago. Each matrilineage is a residential group which tends to inhabit its own section of the village.[2]

The Chiang Mai villagers speak of groups which have *phii diaw kan*, people who have spirits in common. However, they are not clear about the exact nature and identity of the matrilineage guardian spirit worshipped by each group who are related.

The spirits protect the members of the lineage from the curses of living people, malevolent ghosts, disease and death. The members of a matrilineage feel certain bond amongst themselves because they all share and worship these spirits. If these spirits are offended, they can inflict illness on their descendants. As a result the villagers do not take babies out of the protective lineage boundaries of courtyards for they fear that the malevolent ghosts will take away their souls.

Each year members of the lineage contribute money to a woman of the group called *Khon Khvan Khon waa,* the person who rises and speaks to the spirits. This woman is usually a senior member of the lineage who worships the lineage spirits that live in the *baan kaaw,* one of the old houses of the lineage group. Members who for numerous reasons cannot attend or participate in the ceremony will send contributions. The offerings made to the lineage spirits are, after the ceremony, eaten by the members who are present and participated in it.

According to an eyewitness of *Sulamith Heins* - Potter, the actual ceremony consists of the *Khon Khyn Khon Wea* coming to the house, where the spirits are living and offering them several trays of food. The representative of the group then invites the spirits to eat and reports to them all that has occurred in the year and at the same time implores the spirit to protect the group. Then she takes a bowl of uncooked rice, raises it to her and asks the spirit to indicate if they have been satisfied. To establish this she takes a handful of rice from the bowl and counts the grains. An odd number means that the spirits need more time and the process is repeated until she draws an even number, a positive reply.

Sometimes members of a lineage will dance for the spirits. These dances are called *foonphii* (dancing of the spirits). Members will set up tents and altars and hire an orchestra to play. Numerous members of the lineage and a few spirit mediums will dance hoping to become possessed. The women begin by holding a mosquitto net which is hanging from the central rafter of the tent and swing in wildly. This tempo is expected to put them in the mood to be possessed by the lineage spirits. Everyone dances until some of the women begin to go into trance and exhibit wild

behaviour, they show signs as if they have been possessed by the spirits by swining swords. The possessed women relay messages from the spirits to those present.

After the dancing is over a very elaborate ceremony is performed in honour of the lineage spirits and for the fertility of the lineage. The women ritually plough the fields with a man acting as the plough buffalo and some women who by now are drunk from the ceremony symbolically mount the rear of the man the buffalo as if the impregnate him. This ritual is probably reflection of the fact that sometimes a newly wed son-in-law is referred to as a work buffalo. After this symbolically, rice is planted, birds are shot and a male, representing an elephant, is captured. The important aspect of ceremony is that those who have received favours from the spirits like an illness has been cured - will demonstrate their appreciation by donating money.

When and if a woman relocates to another village, she will continue to contribute to the worship of her lineage spirits in her home town, at least for some time. As the time goes by either the old ties are weakened and a new branch of lineage is formed, or she may join her husband's linaeage. The spirit dances of the lineage provide the opportunity for the related lineage from many different villages in the area, to meet.[3]

Almost in every region of Thailand with the exception of southern provinces, because of their different ethnic composition, the youngest daughter and her husband will live with the woman's parents in an extended stem household throughout their married life. When the parents die, this couple inherits most of the property.

According to Kabilashingh. this family pattern emerged as a consequence of economic necessity. During the Ayutthaya period, under the corvee system men were required to work away from home every other month, and sometimes the corvee took them away for as long as three months. During this time women had to take care of the families and manage farms and business and because of this, the newly wedded couples moved to live with wife's family. They led to a matrilineal social system and also to relative financial indepndence of women. While big business was in the hands of Chinese traders and foreign trade was under the control of the king. Thai women became quite skilful in small scale business earning a degree of financial indepndence and some business skill.[4]

The rule requiring a young man to live with his wife's family puts him in a disadvantaged position. During the early years he is considered a stranger, is treated as such and has to submit to the authority of his father-in-law. He helps with the farm

work and other chores around the house, depends on the generiosity of his father-in-law for any assitance if he wants to rent additional land. During the early years, he does not participate or voice opinions in the family matters and his wife and children too are under the authority of her father.[5]

If the groom is from a different village, his position is even weaker. He is quite alone, and may have a very little contact with his own family and in addition, he is treated as an outsider in his wife's home. Many men will avoid, therefore, village exogamy. Potter citing his research from a village in Chiang Mai in northern Thailand, says that although village endogamous marriages also place the young man in a weaker position, he is comparatively in a better situation than the former case. Although he is still required to move into the wife's home, at least he is within his own village and his own family is not far away as a support system.[6]

As the children grow up, the sons marry out of the family and go to live with their wive's families. Daughter preferably will marry in sequence of their age. Each daughter will live with her husband in her parent's home for a short period of time until the next daughter gets married. If there is only one daughter in the family she, along with her husband, will live with her parents for the rest of their lives and ultimately inherit the house. If there are more than one daugher then the first married daughter and her husband will move out into a separate home near the parent's home and the second one and her husband will live in her parent's home. Though two married daughters are not supposed to live with their parents at the same time, under certain circumstances this could happen.

Even when a married daughter and her husband move out into a separate dwelling, they remain subordinated to the parental control. Eventually the couple and their children may try to become independent by buying their own home, which ofter results in a long drawn conflict.[7]

Relations between father and son are usually very warm and loving. If the father can afford it, he will send his son to a *wat* for a short period of time to serve as a novice and to make merit for his parents and their souls in the after life. In return for his education in the ways of manhood and for all the efforts and expenses incurred by his parents to raise him a son owes his father love and respect and will help on the farm until he is married.

Mother and sons are very close, even closer than the sons and their father's. Mothers usually wish that the sons will not have to marry outside of the Village.[8]

Citing the examples from a Chiaing Mai village, Potter explains the rule of inheritance. All children - sons and daughters - inherit equally the rice fields, orchards and other assets of the parents. Inheritance can be delayed until after the death of both parents, but sometimes parents may divide the property amongst their children as soon as they decide to retire. If one of the parents dies the other will divide the property amongst the children. Sometimes the surviving parent retains a portion of the property and the formal title to all property, even after it had been divided. The only exception to this rule is that the youngest daughter, who brings her husband to live with her parents after the marriage, inherits also the family house in addition to her share.

If there is no daugher in the family, then one of the sons will bring his wife to live with his parents. In such cases, his wife is allowed to worship her husband's matrilineal spirits as well as her own. She is now a member of both families. Their children will also have double membership. At least one of the daughters of such a couple will choose to continue her father's matriline and pass it on her own daughter in order to restart or continue the matriline. If a couple has no child or there are no married children then a child is adopted from the bilateral kindered to inherit family property. Usually a daugher is adopted from the wife's sister.[9]

It has now been well established that after his marriage a man, for all practical purposes, becomes a member of his wife's family. Also that the matrilocal residential pattern is most practised. However, under certain other circumstnaces exceptions are made. If the man's family is very well off or is of much higher status than the bride's family, then the couple may decide that; it is to their advantage to live with the man's family. After a token stay with wife's family they may move to live with man's family. Also, if there is a feeling of deep conflict between the husband and the wife's side of the family that living with them is impossible, the couple may opt to live with his family.[10]

Although neolocal residential pattern and the nuclear family would be ideal and even most desirable, in most Thai villages this is not the case. The youngest daugher has hardly any option but to live with her parents after she is married. The other married daughters, who had moved out of the main house, remain however, under continuous parental control. In fact one of the main reasons for them to move away is because their own daughters are growing up and are at a marriageable age, but also they want their own husbands to build up some independent resources so that their daughers may be able to marry well.[11] If a man divorces his wife or if the

wife dies, he may return to this parent's matrilineage.[12]

In some Thai villages, like Bang Chan in southern region and in lower delta region near Bangkok, the patrilocal extended - stem families are more common especially among the Chinese and the Malays.[13] Another variation occurs in the north among the Thai Lue, where for the first three years the couple will live with wife's family, next three years with groom's family and then alternating in a three year pattern. As a result both matrilocal and patrilocal residential pattern are followed.

In the patrilocal residential pattern it is uaully the wife who is treated as an outsider, at least in the early years of the marriage. She is subordinated to her mother-in-law and other members of the household who are senior to her in years or status. She has to depend on the family's generousity for all her needs.

Other ethnic groups in Thailand such as Vietnamese, Charns, Mons, Khmers and Phuthai, follow marital residential partners with small variations. Thus the matrilocal extended stem family and its associated features are the basic Thai pattern.[14]

Relationship within Thai nuclear family are considered more important than with relatives of the extended family. Within the latter there are no obligatory expectations or rights and expectations. Sometimes relationship with the neighbours is stronger than with the members of the extended family. The institutions of the surnames was introduced into Thailand only in 1917 as a result of contact with the West. Even today it is not only customary, but Thais prefer to be addressed by their given name only.

Also within the nuclear family there is a considerable latitude of individual freedom, young people are allowed to choose their mates, and if parents object to the match the young adults usually elope to avoid any further complications. And if things go wrong, it is easy to get or give divorce in Thailand. Children are loved, but are socialized to be independent and self reliant from early childhood. They are often given to other families to be raised and socialized and there is the ever present threat of their rejection by their own family.

Loose family ties reduce stress and the individuals are free to find their own status and pursue their own salvation through good *Karma*. Those who are born in the position of wealth are definitely in a more advantageous position, but this does not mean that the situation cannot change. There are ways by which a higher level placed individual could shift downward such as the declining descent rule, which merges members of the royal household with commones in five generations.

Eventually, all positions in the Thai society are perceived as earned and validated by good or bad deeds.

This type of a family system is very much in harmony with Buddhist values. However, is one particular situation it also poses a serious threat to the family. If each partner in a marriage is concerned only with increasing his or her own merit at any cost through a particular activity, and when husband and wife compete against each other for earning merit in the same type of activities, this competition might lead to a breakdown of the marriage. This could be avoided if husband and wife were not competing with each other for the same merit position and pursue activities pertaining to merit making which are mutually exclusive. This should explain why Buddhism defines and is very thorough in outlining separate roles and profession for women to follow.

Social Values -

The Thais are outwardly an extremely polite people. They are very gracious and hospitable, particularly to strangers and guests. Even when quite worried and concerned they remain calm and consider confrontation or expression'of anger as adversely affecting social harmony. In fact, staying calm and serene even under severe pressure commands a great deal of respect. Pointing with ones feet is considered very impolite and kicking some one is absolutely unacceptable the highest form of disrespect. Also, asking too many questions of one's superiors or elders is forwarded upon. And one should never talk back.

It is also worthwhile to mention that although the Thais are always smiling and at least outwardly appear very relaxed, they are not apt to tell a joke and usually have a differently responding appropriately if a joke is told by a non-Thai. In Thai society one certainly does not joke with, or in the presence of one's elders or superiors.

Discrimination and correct behaviour manifests itself in the form of a deliberate social distance. For example one must not speak to elders or superiors standing up while the latter are seated because the speakers head is higher than theirs. Also juniors or subordiantes must greet and should be prepared that there may, or may not, be a response or an appropriate recognition. Many other instances were encountered where it was hard not to observe other forms of conduct and behaviour in the work place specified to the Thai social norms. For example, being productive or hard working is not considered a virtue, as long as from is maintained of being present and visible on the job.

References

1. Potter, J.M., Thai Peasant Social Structure. The University of Chicago Press pp. 194.
2. Ibid, pp. 141
3. Ibid, pp. 116
4. Kabilsingh Chatsumarn, Thai women in Buddhism, Berkely Parallex Press, 1991, R 18.
5. Potter, J.M., op. cit., pp. 119.
6. Ibid, pp. 120
7. Ibid, pp. 142
8. Ibid, pp. 126
9. Ibid, pp. 128
10. Ibid, pp. 119
11. Ibid, pp. 156
12. Ibid, pp. 136
13. Ibid, pp. 150
14. Ibid, pp. 151 cf also Sharan, Mahesh Kumar, The Glory of Thailand, Chapter-III (in Press.

A Study on Non-Verbal Intelligence of Children

Abhay Pratap Singh*

ABSTRACT : The present study is an attempt to find out the level of non-verbal intelligence in different group of children. A 2x2 factorial design with 2 type of school (government and private) and 2 gender type (boys and girls). Sample consists of 80 students as participants from different schools of Gorakhpur, 20 in each cell. Random sampling technique was used in present study. Results showed that children of private school scored high level of non verbal intelligence as compared to government school children. Results have been discussed in the light of personal and educational factors.

Introduction

Intelligence is most important variable which leads success in school and social life. In general terms 'intelligence' means the manner with which an individual deals with facts and situation. Another word, intelligence is the aggregate or the global capacity of the individual to act purposefully, to think rationally and to deal effectively with the environment. There are many kinds of intelligence; non verbal intelligence is one of them. Basically, *it is defined as non verbal intelligence is the ability to analyze information and solve problems using visual, or hands on reasoning. In other words it is the ability to make sense of and act on the world without necessarily using words.* Verbal and non - verbal intelligence of children is influenced by numerous factors i.e., family environment, socio economic status, age, gender (Hunt, 1969; Srivastava, 1984; Pal, 1984; Tripathi, 1974; Deshpandey, 1971).

Schools and educational institutions are the temple of knowledge for linked students. Favorable conditions of schools play a vital role in the development of cognitive ability of the students. In this concern, children need safe, healthy and stimulating school environment in which they learn. During the school year, children can spend more time at the school where the environment plays a significant role in child development. This condition requires careful planning, and designing to optimize

*Assistant Professor, Deptt. of Psychology, Akhilabhagya Post Graduate College, Ranapar Gorakhpur

experiences that support education, health and stewardship. Therefore, the school environment is shaping and reshaping intellectual ability of children. However, supportive and favorable school environment enriched with enough learning facilities, and favorable climate makes students more comfortable, more concentrated on their academic activities that resulted in high level intelligence. The right educational processes make physical, social, cultural and psychological environment for all concerning students. A proper and adequate environment is very much necessary for a fruitful learning of the child. The favorable school environment provides the necessary stimulus for learning experiences.

A number of studies describe the impact of school setting on cognitive ability of students. Arul Laurence (2012) pointed out that school environment is influence on performance through curricular, teaching technique and relationship. Another study showed that there is a significant difference between the academic achievement of students in rural and urban secondary schools as measured by senior school certificate examinations. To him, the geographical location of schools has a significant influence on the academic achievement of students. Investigator pointed out that uneven distribution of resources, poor school mapping, facilities, problem of qualified teachers refusing appointment or not willing to perform well in isolated villages, lack of good road, poor communication, and nonchalant attitude of some communities to school among others are some of the factors contributed to a wide gap between rural and urban secondary schools. Schools located in rural areas lack qualified teachers. It is because, they do not want going to rural areas that lack social amenities. They prefer to stay in urban schools. It is also observed that a lot of coaching of urban students is done to prepare them for public examinations, thus promoting the spirit of competition and rivalry that may be lacking in the rural pupils, probably, owing to limitations in exposure and experience. Also, the study has proven that students in urban areas had better academic achievement than their rural counterpart. In other word, students in urban locations have a very advantage of favourable learning environment that apparently enhance their academic performance (Oworye, J.S., 2011).

Besides these studies, some situations in schools of rural Gorakhpur in Uttar Pradesh was generally observed by me. Children who read in government school, they are suffering from lack of perfect learning environment condition, more financial crisis in their home, not well chalk, black board and sitting place at school , teachers are mostly busy in MDM and office related work, lack of teacher- student ratio and etc. Finally, these schools have been considered in disadvantaged group. Private

school are maintaining learning environment to their students and supporting TLM and other standard teaching pattern, perfect teacher –student ratio according to norm. These schools have been considered as advantaged group. Therefore, a study on non-verbal intelligence of rural children of Gorakhpur was planned.

Objective

1. To investigate the role of type of school on the level of non verbal intelligence of children.
2. To find out the impact of gender on the level of non- verbal intelligence of children.

Hypothesis

Based on the above objective following hypothesis has been made

1. Type of School and Gender would influence on the level of non- verbal intelligence of children.

Method

Participants: A total of 80 children, age range 11years to 16 years, education 6 to 8 class from rural area of Gorakhpur selected for present study. Stratified random sampling technique was used. Sample selection was done applying 2x2 factorial designs with 2 level types of schools (government and private schools) and 2 level gender (boys and girls).

Measure:

1. **Non- Verbal Intelligence Test –** This test was developed and standardized by Sharma, A (2007). The test was used to assess the level of non- verbal intelligence of 10 to 16 years old children. The reliability of the test was estimated from split- half method and score was .90 to .94.

Procedures:

The participants were contacted in their school and purpose of the study was explained to them and their school teachers. After their consent, demographic information was obtained regarding name, sex, age, type of school, SES etc of children. After receiving this information investigator administered non- verbal intelligence test with instructions and gives booklet and answer sheet to fill properly as suggested. After completing their response, data were collected and participants

were thanked for participation. Responses given by participants were scored according to defined rules, given in manuals and score were treated statistically by SPSS.

Results

Obtained data were analyzed with the help of Means, SDs and ANOVA. Results are displayed in Tables No. 1 & 2 and Fig. No. 1 .

Table 1: Means and SDs of Non – Verbal Intelligence as a function of type of school and gender

Variables		Government Schools		Private Schools	
Non Verbal Intelligence		Boys	Girls	Boys	Girls
	Mean	**10.55**	**12.20**	**6.5**	**7.45**
	SD	**3.24**	**2.53**	**4.34**	**2.26**

Results are shown in table 1 indicate that the level of non verbal intelligence varied across different groups of children. Table 1 and Figure 1 showing that on mean of Non- Verbal intelligence, private schools children (M = 11.38) was highest as compared to government schools children (M = 6.98). However, boys achieved nearest mean score (M = 8.53) as girls achieved score (M = 9.83).

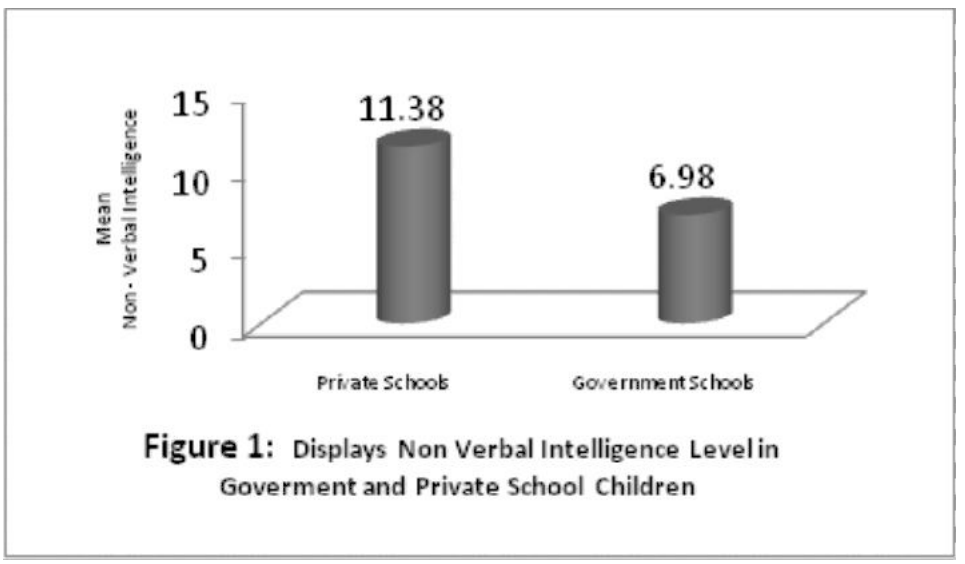

Figure 1: Displays Non Verbal Intelligence Level in Goverment and Private School Children

In order to ascertain the significant impact of school type and gender ANOVA analysis was done and obtained results are presented in table 2.

Table 2 : Summary of 2 x 2 ANOVA of Non Verbal Intelligence

Source of Variation	Sum of Squares	df	Mean Square	F
Between A (Type of School)	387.2	1	387.2	37.92**
Between B (Gender)	33.80	1	33.80	3.31
AxB	2.45	1	2.45	.240
Within	776.1	76	10.21	

N = 80, ** = P < .01, * = P< .05

Significant main effect for type of school was found to be significant ($F(1, 76) = 37.92$, $P<.01$), which revealed that level of non verbal intelligence was found greater in children of private school (M = 11.38) than children of government school (M = 6.98). Gender role and interaction effect were not found significant.

Discussions

Teaching institutions play a vital role for the improving intelligence and other cognitive abilities in children. They give standard environment to sharp children's mind. Institutions, Learning environment and teachers influence on their classroom practice.

Results indicate that the students of private school have greater level of non verbal intelligence than government school. Present findings have partially confirmed the hypotheses, which is 'Type of School and Gender would influence on the level of non- verbal intelligence of children'. Results have been supported by many prior studies (Orlu, C., 2013; Sunday, A.A, 2012). Eric, s (2005) examined the role of the supportive school environment in promoting academic success postulates that the school environment has broad influence on students, learning and growth. Sunday (2012) observed that poor facilities and inadequate space as well as the arrangement of items including seats in the classroom would affect the organization of learning environment.

Another research by Oworye, J.S. (2011) pointed out that uneven distribution of resources, poor school mapping, facilities, problem of qualified teachers refusing appointment or not willing to perform well in isolated villages, lack of good road, poor communication, and nonchalant attitude of some communities to school among others are some of the factors contributed to a wide gap between rural and urban secondary schools. Schools located in rural areas lack qualified teachers. It is because, they do not want going to rural areas that lack social amenities. They prefer to stay in

urban schools. It is also observed that a lot of coaching of urban students is done to prepare them for public examinations, thus promoting the spirit of competition and rivalry that may be lacking in the rural pupils, probably, owing to limitations in exposure and experience. Also, the study has proven that students in urban areas had better academic achievement than their rural counterpart. In other word, students in urban locations have a very advantage of favourable learning environment that apparently enhance their academic performance.

In this direction, these differences have shown in government school in rural area as compared to private school, therefore it can be said that poor facilities in school and lack of teachers provide damaging role in academic performance of children. The location of the school affects student's performance. However, the physical structure of the school building and the interactions between teachers and students are also influence students performance. School climate can be a positive influence on health of the learning environment or a significant barrier to learning.

Several factors such as attitude of students and teachers, study habit, teachers' qualification, teaching methods, school environment, government policy, school location, family types have been identified in several studies as factors influencing students' academic achievement (Edwards, 2000; Aremu & Sokan, 2003; Asikhia, 2010; Akomolufe & Olorumfemi-Olabisi, 2011).

Besides these many reasons may be possible for low level non verbal intelligence in children of government school i.e., not well seating arrangement, very few teachers in schools, not proper caring, teacher busy in mead day meal programme per day, most of the primary school have no fan and another facilities, some time using TLM. Private schools have better physical and psychological environment. All teachers busy only their teaching work, students work properly with discipline therefore student's performance and level of non-verbal intelligence is best as compared to government's students.

Recommendations

Based on the above finding and discussions, following recommendations are made

1. Higher authorities of government school should provide adequate teachers, funding and facilities for the development of the school environment.
2. Government should take an attention to develop similar pattern of schooling.

3. The school should be internationalized through its curriculum and other services.

4. Teaching work must be innovative

5. Future researchers should try to conduct more researches on the factors affecting non – verbal intelligence as well as academic performance to other levels of education.

References

- Akomolafe, M. T., & Olaranfemi-Olabisi, F. A. (2001). Tmpact of family type on secondary school students' academic performance in Ondo State, Nigeria. European Journal of Educational Studies, 3, 481-487
- Aremu, O. A., & Sokan, B. O. (2003). A multi-causal evaluation of academic performance of Nigerian learners: Issues and implications for National development of Guidance and Counselling, University of Ibadan, Nigeria.
- Arul Laurence, A.S. (2012). School Environment & Academic Performance of Standard Six Students, Journal of Educational and Industrial Studies in the World, vol. 2, issue 3 article 22.
- Asikhia, O. A. (2010). Students' and Teachers' perception of the causes of poor, academic performance in Ogun state secondary schools [Nigeria]: Implication for Counselling for national development. European Journal of Social Sciences, 13(2), 229-242.
- Deshpandey (1971) quted in *'Pryogatamak shiksha manovigyan'* HanshRaj Pal, Rajendra Pal and Rakesh Devra (2011), Hindi Madhyam Karyanvaya Nideshalay Delhi University, Delhi . pp 123
- Edwards, A. (2000). A Validation study of the Joseph Self-Concept scale for children. Dissertation Abstract International: The Science and Engineering, 62
- Eric, S. (2005). The Role of Supportive School Environment in Promoting Success, an Article from Development Studies Centre (DSC); Developing Safe and Healthy Kids, Published in Getting Result, update 5 (chapter3)
- Hunt (1969) quted in *'Pryogatamak shiksha manovigyan'* HanshRaj Pal, Rajendra Pal and Rakesh Devra (2011), Hindi Madhyam Karyanvaya Nideshalay Delhi University, Delhi. pp 124
- Orlu, C. (2013). Environmental Influence on the Academic Performance of Secondary School Students in Port Harcourt Local Government Area of River State. Journal of Economic and Sustainable Development, vol. 4, No. 12
- Owoeye, J.S. (2011). School Location and Academic Achievement of Secondary School in Ekiti State, Nigeria, Journal of Asian Social Science, vol.7, No.5.
- Pal, H.R (1984). A Study of Various aspects of School adjustment in Relation to General Intelligence & Sex. Unpublished M.Ed Dissertation, Indore University, Indore.
- Srivastava (1984) quted in *'Pryogatamak shiksha manovigyan'* HanshRaj Pal, Rajendra Pal and Rakesh Devra (2011), Hindi Madhyam Karyanvaya Nideshalay Delhi

University, Delhi. pp 124

- Sharma(2007). Non verbal Intelligence Test, psycho publications, surendra vihar, New Delhi.
- Sunday, A.A. (2012). The Relationship among School Environment, Student Approaches to Learning and Their Academic Achievement in Senior Secondary School in Physics, International Journal of Educational Research & Technology, vol.3, issue1.
- Tripathi (1974) quted in *'Pryogatamak shiksha manovigyan'* HanshRaj Pal, Rajendra Pal and Rakesh Devra (2011), Hindi Madhyam Karyanvaya Nideshalay Delhi University, Delhi. pp 124

Mānaviki

An Interdisciplinary Journal of Humanities & Social Sciences

Subscription Form

Editor,
Mānavikī
Maharana Pratap P.G. College
Jungle Dhusar, Gorakhpur-273014

Dear Editor,

I/we would like to subscribe to the ***Mānavikī***, an interdisplinary journal of Humanities and Social Sciences, published by you. Subscription amount Rs./US$.....is being enclosed herewith by cheque*/demand draft no. ..... drawn on ..... Kindly enrol my/our - Annual/ Five Year/Life subscription** and arrange to send the issues of the journal on the following address :

Name of Individual/Institution : .....

Address : .....

.....

City : ..... Pin/Zip .....

State : ..... Country :.....

Subscription Rates

	Individual		Institutional	
Annual	Rs. 300	US $ 30	Rs. 500	US $ 50
Five Years	Rs. 1250	US $ 80	Rs. 2000	US $ 125
Life (15 Years)	Rs 2500	US $ 150	Rs. 4000	US $ 200

* All cheques/demand drafts should be drawn in favour of ***Mānavikī*** payable at Gorakhpur. In case of outstation cheques please add Rs. 30/US$ 2 for clearing expenses.

** Please tick the desired subscription period.

Maharana Pratap P.G. College
Jungle Dhusan, Gorakhpur
Mob. : 9794299451, 9452735221 • E-mail : manvikijournal@gmail.com

GUIDELINES FOR CONTRIBUTORS

1. Contribution should be submitted in duplicate, the first two impressions of the typescript. It should be typed in font Walkman-Chanakya (Hindi) and in Times New Roman (English) on a quarter or foolscap sized paper, in double-space and with at least one and a half inch margin on the right. Two copies of a computer printout along with a CD are preferred. They should subscribe strictly to the Journal format and style requirements.

2. The cover page of the typescript should contain: (i) title of the article, (ii) name (s) of author(s), (iii) professional affiliation, (iv) an abstract of the paper in less than 150 words, and (v) acknowledgements, if any. The first page of the article must also provide the title, but not the rest of the item of cover page.

3. Though there is no standard length for articles, a limit of 5000 words including tables, appendices, graphs, etc., would be appreciated.

4. Tables should preferably be of such size that they can be composed within one page area of the Journal containing about 45 lines, each of about 85 characters (letter/digits). The source(s) should be given below each table containing data from secondary source(s) or results from previous studies.

5. Figures and charts, if any, should be professionally drawn using such materials (like black ink on transparent papers) which allow reproduction by photographic process. Considering the prohibitive costs of such process, figures and charts should be used only when they are most essential.

6. Indication of notes should be serially numbered in the text of the articles with a raised numeral and the corresponding notes should be given at the end of the paper.

7. A reference list should appear after the list of notes. It should contain all the articles, books, reports, etc., referred in the text and they should be arranged alphabetically by the names of authors or institutions associated with those works.

   (a) Reference to books should present the following details in the same order: author's surname and name (or initials), year of publication (within brackets), title of the book (underlined/italic), place of publication. For example:

   Chakrabarti, D.K. (1997), *Colonial Indology: Socio-politics of the Ancient Indian Past,* pp. 224-25, New Delhi

   (b) Reference to institutional publications where no specific author(s) is (are) mentioned should present the following details in the same order. institution's name, year of publication (within brackets), title of the publication (underlined/italic), place of publication. For example:

   Ministry of Human Affairs (2001), *Primary Census Abstract,* New Delhi, pp. xxxviii.

   (c) Reference to articles in periodicals should present the following details in the same on: the author's surname and name (or initials), year of publication (in brackets), title of the article (in double quotation marks), title of periodical (underlined/italic), number of the volume and issue (both using Arabic numerals); and page numbers. For example:

   Siddiqui, F.A. and Naseer, Y. (2004), "Educational Development and Structure of Works participation in western Uttar Pradesh", *Population Geography,* Vol. 26, Nos. 1 & 2, pp. 25-26.

   (d) Reference in the text or in the notes should simply give the name of the author or institution and the year of publication, the latter within brackets; e.g. Roy (1982). Page numbers too may be given wherever necessary, e.g. (Roy 1982: pp. 8-15).

मानविकी

मानविकी एवं समाज-विज्ञान की अन्तः अनुशासनात्मक शोध पत्रिका

In the Pious Memory of

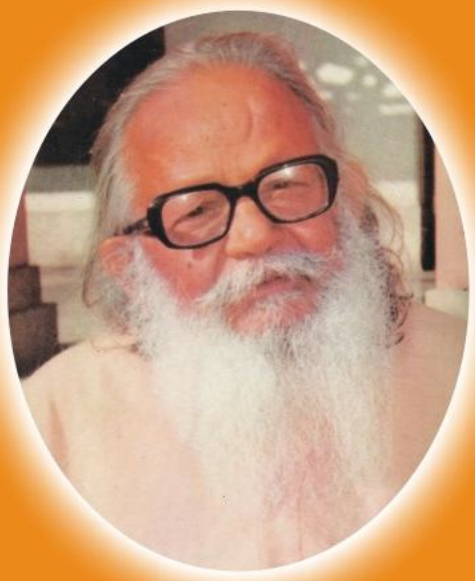

ब्रह्मलीन पूज्य महंत अवेद्यनाथ जी महाराज

(18.5.1919 - 12.9.2014)

कल्याण सभी जन का मन से
है किया कि सभी अभय होवें,
होकर अवेद्य भी वेद्य धरा पर
संत प्रवर की जय होवे।

ISSN 0976-0830

Published by Maharana Pratap Post Graduate College, Jungle Dhusan, Gorakhpur (U.P.)
E-mail : manvikijournal@gmail.com, omjee25@gmail.com
Printed at Moti Paper Convertors, Betia Raj House, Betiahata, Gorakhpur Ph. : 0551-2334184